कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

प्रेम-द्वादशी

लेखक

प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

प्रेम-द्वादशी

[शिक्षाप्रद बारह कहानियाँ]

लेखक

प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

कापीराइट—सरस्वती प्रेस, बनारस।

द्वादश संस्करण, १९४७।

मूल्य १॥)

: मुद्रक :
श्रीपतराय
सरस्वती प्रेस
बनारस

भूमिका

हिन्दुस्तानी भाषाओं में कहानी का कोई इतिहास नहीं है। प्राचीन साहित्य में दृष्टान्तों और रूपकों से उपदेश का काम लिया जाता था। उस समय की वे ही गल्पें थीं। उनमें आध्यात्मिक विषयों का ही प्रतिपादन किया जाता था। महाभारत आदि ग्रन्थों में ऐसे कितने ही उपाख्यान और दृष्टान्त हैं, जो कुछ-कुछ वर्तमान समय की गल्पों से मिलते हैं। सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, कथासरित्सागर और इसी श्रेणी की अन्य कितनी ही पुस्तकें ऐसे ही दृष्टान्तों का संग्रह-मात्र हैं; जिन्हें किसी एक सूत्र में पिरोकर मालाएँ तैयार कर दी गई हैं। योरप का प्राचीन साहित्य भी Short Story से यही काम लेता था। आजकल जिस वस्तु को हम Short Story कहते हैं, वह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आविष्कार है। भारतवर्ष में तो इसका प्रचार, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में ही हुआ है। उपन्यासों की भाँति आख्यायिकाओं का विकास भी पहले-पहल बँगला साहित्य में हुआ और बंकिमचंद्र तथा रवीन्द्रनाथ ने कई उच्चकोटि की गल्पें लिखीं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हिन्दी-भाषा में कहानियाँ लिखी जाने लगीं; और तबसे इसका प्रचार दिन-दिन बढ़ता जाता है।

प्राचीन गल्पमालाओं का उद्देश्य मुख्य करके कोई उपदेश करना होता था। कितनी ही मालाएं तो केवल स्त्रियों के चरित्र-दोष दिखाने के लिए ही लिखी गई हैं। मुसलिम-साहित्य में अलिफ़लैला गल्पों का एक बहुत ही अनूठा संग्रह है; मगर उसका उद्देश्य उपदेश नहीं; बल्कि मनोरंजन है। इस दूसरी श्रेणी की गल्पें भारतीय साहित्य में नहीं हैं। वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्य-रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान गल्प-लेखक कोरी गल्पें लिखता है, जैसी बोस्ताने-ख़याल या तिलस्मे-होशरुबा हैं। नहीं, उसका उद्देश्य चाहे उपदेश करना न हो; पर गल्पों का आधार कोई-न-कोई दार्शनिक तत्त्व या सामाजिक

विवेचना अवश्य होता है। ऐसी कहानी जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ न करे या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत करे, कहानी नहीं है।

योरप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अन्तर है। योरप की दृष्टि सुन्दर पर पड़ती है ; पर भारत की सत्य पर। सम्पन्न योरप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे ; लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं ; लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखनेवाला योरप, हम आदर्शवादियों से जीवन-संग्राम में बाजी क्यों न ले जाय ; पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर योरप से लिया है ; लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।

इस संग्रह में जो कहानियाँ दी जा रही हैं, उनमें इसी आदर्श का पालन करने की चेष्टा की गई है। मेरी कुल कहानियों की संख्या २०० से अधिक हो गई है और आजकल किसी को इतनी फुरसत कहाँ कि वह सब कहानियाँ पढ़े। मेरे कई मित्रों ने मुझसे अपनी कहानियों का ऐसा संग्रह करने के लिए आग्रह किया, जिनमें मेरी सभी तरह की कहानियों के नमूने आ जायँ। यह संग्रह उसी आग्रह का फल है। इसमें कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जो अन्य संग्रहों से ली गई हैं। उनके प्रकाशकों को धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जो अभी तक किसी माला में नहीं निकलीं। इन कहानियों की आलोचना करना मेरा काम नहीं। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

—प्रेमचन्द।

विषय-सूची

प्रेम-द्वादशी

शांति

जब मैं ससुराल आई, तो बिलकुल फूहड़ थी। न पहनने-ओढ़ने का सलीक़ा, न बातचीत करने का ढंग। सिर उठाकर किसी से बातचीत न कर सकती थी। आँखें अपने आप झपक जाती थीं। किसी के सामने जाते शर्म आती, स्त्रियों तक के सामने बिना घूँघट के झिझक होती थी। मैं कुछ हिन्दी पढ़ी हुई थी; पर उपन्यास, नाटक आदि के पढ़ने में आनन्द न आता था। फ़ुर्सत मिलने पर रामायण पढ़ती। उसमें मेरा मन बहुत लगता था। मैं उसे मनुष्य-कृत नहीं समझती थी। मुझे पूरा-पूरा विश्वास था कि उसे किसी देवता ने स्वयं रचा होगा। मैं मनुष्यों को इतना बुद्धिमान् और सहृदय नहीं समझती थी। मैं दिन-भर घर का कोई-न-कोई काम करती रहती। और कोई काम न रहता, तो चर्खे पर सूत कातती। अपनी बूढ़ी सास से थर-थर काँपती थी। एक दिन दाल में नमक अधिक हो गया। ससुर-जी ने भोजन के समय सिर्फ़ इतना ही कहा—'नमक ज़रा अन्दाज़ से डाला करो।' इतना सुनते ही हृदय काँपने लगा। मानों मुझे इससे अधिक कोई वेदना नहीं पहुँचाई जा सकती थी।

लेकिन मेरा यह फूहड़पन मेरे बाबूजी (पतिदेव) को पसंद न आता था। वह वकील थे। उन्होंने शिक्षा की ऊँची-से-ऊँची डिगरियाँ पाई थीं। वह मुझ पर प्रेम अवश्य करते थे; पर उस प्रेम में दया की मात्रा अधिक होती थी। स्त्रियों के रहन-सहन और शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत ही उदार थे। वह मुझे उन विचारों से बहुत नीचे देखकर कदाचित् मन-ही-मन खिन्न होते थे; परन्तु उसमें मेरा कोई अपराध न देखकर हमारे रस्म-रवाज पर झुँझलाते थे। उन्हें मेरे साथ बैठकर बातचीत करने में ज़रा भी आनन्द न आता। सोने आते, तो कोई-न-कोई अँगरेज़ी पुस्तक साथ लाते, और नींद न आने तक पढ़ा करते। जो कभी मैं पूछ

बैठती कि क्या पढ़ते हो, तो मेरी ओर करुणा दृष्टि से देखकर उत्तर देते—तुम्हें क्या बतलाऊँ, यह 'आसकर वाइल्ड' की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मैं अपनी अयोग्यता पर बहुत लज्जित थी। अपने को धिक्कारती, मैं ऐसे विद्वान् पुरुष के योग्य नहीं हूँ। मुझे तो किसी उजड्ड के घर पड़ना था। बाबूजी मुझे निरादर की दृष्टि से नहीं देखते थे, यही मेरे लिए सौभाग्य की बात थी।

एक दिन संध्या समय मैं रामायण पढ़ रही थी। भरतजी रामचंद्रजी की खोज में निकले थे। उनका करुण विलाप पढ़कर मेरा हृदय गद्गद हो रहा था। नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। हृदय उमड़ा आता था। सहसा बाबूजी कमरे में आये। मैंने पुस्तक तुरन्त बन्द कर दी। उनके सामने मैं अपने फूहड़पन को भरसक प्रकट न होने देती थी; लेकिन उन्होंने पुस्तक देख ली, और पूछा—रामायण है न?

मैंने अपराधियों की भाँति सिर झुकाकर कहा—हाँ, ज़रा देख रही थी।

बाबूजी—इसमें शक नहीं कि पुस्तक बहुत ही अच्छी, भावों से भरी हुई है; लेकिन इसमें मानव-चरित्र को वैसी ख़ूबी से नहीं दिखाया गया, जैसा अँगरेज़ या फ्रांसीसी लेखक दिखलाते हैं। तुम्हारी समझ में तो न आवेगा; लेकिन कहने में क्या हरज है, योरप में आजकल 'स्वाभाविकता' (Realism) का ज़माना है। वे लोग मनोभावों के उत्थान और पतन का ऐसा वास्तविक वर्णन करते हैं कि पढ़कर आश्चर्य होता है। हमारे यहाँ कवियों को पग-पग पर धर्म तथा नीति का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए कभी-कभी उनके भावों में अस्वाभाविकता आ जाती है, और यही त्रुटि तुलसीदास में भी है।

मेरी समझ में उस समय कुछ भी न आया। बोली—मेरे लिए तो यही बहुत है, अँगरेज़ी पुस्तकें कैसे समझूँ।

बाबूजी—कोई कठिन बात नहीं। एक घंटे भी रोज पढ़ो, तो थोड़े ही समय में काफ़ी योग्यता प्राप्त कर सकती हो; पर तुमने तो मानों मेरी बातें न मानने की सौगंध ही खा ली है। कितना समझाया कि मुझसे शर्म करने की आवश्यकता नहीं; पर तुम्हारे ऊपर कुछ असर न पड़ा। कितना कहता हूँ कि ज़रा सफाई से रहा करो; परमात्मा सुन्दरता देता है तो चाहता है कि उसका श्रृङ्गार भी होता रहे। लेकिन जान पड़ता है, तुम्हारी दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य नहीं। या शायद तुम समझती हो कि मेरे-जैसे कुरूप मनुष्य के लिए तुम चाहे जैसे भी रहो, आवश्यकता

से अधिक अच्छी हो। यह अत्याचार मेरे ऊपर है। तुम मुझे ठोंक-पीटकर वैराग्य सिखाना चाहती हो। जब मैं दिन-रात मेहनत करके कमाता हूँ, तो स्वभावतः मेरी यह इच्छा होती है कि उस द्रव्य का सबसे उत्तम व्यय हो ; परन्तु तुम्हारा फूहड़पन और पुराने विचार, मेरे सारे परिश्रम पर पानी फेर देते हैं। स्त्रियाँ केवल भोजन बनाने, बच्चे पालने, पति की सेवा करने और एकादशी व्रत रखने के लिए नहीं हैं, उनके जीवन का लक्ष्य इससे बहुत ऊँचा है। वे मनुष्यों के समस्त सामाजिक और मानसिक विषयों में समान रूप से भाग लेने की अधिकारिणी हैं। उन्हें मनुष्यों की भाँति स्वतंत्र रहने का भी अधिकार प्राप्त है। मुझे तुम्हारी यह बंदी-दशा देखकर बड़ा कष्ट होता है। स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी मानी गई है ; लेकिन तुम मेरी मानसिक या सामाजिक, किसी आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकतीं। मेरा और तुम्हारा धर्म अलग, आचार-विचार अलग, आमोद-प्रमोद के विषय अलग। जीवन के किसी कार्य में मुझे तुमसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। तुम स्वयं विचार सकती हो कि ऐसी दशा में मेरी ज़िन्दगी कैसी बुरी तरह कट रही है।

बाबूजी का कहना बिलकुल यथार्थ था। मैं उनके गले में एक जंजीर की भाँति पड़ी हुई थी। उस दिन से मैंने उन्हीं के कहे अनुसार चलने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली ; अपने देवता को किस भाँति अप्रसन्न करती ?

(२)

यह तो कैसे कहूँ कि मुझे पहनने-ओढ़ने से प्रेम न था। था, और उतना ही था, जितना दूसरी स्त्रियों को होता है। जब बालक और वृद्ध तक शृङ्गार पसन्द करते हैं, तो मैं तो युवती ठहरी। मन भीतर-ही-भीतर मचलकर रह जाता था। मेरे मायके में मोटा खाने और मोटा पहनने की चाल थी। मेरी माँ और दादी हाथों से सूत कातती थीं, और जुलाहे से उसी सूत के कपड़े बुनवा लिये जाते थे। बाहर से बहुत कम कपड़े आते थे। मैं कभी ज़रा महीन कपड़ा पहनना चाहती या शृङ्गार की रुचि दिखाती, तो अम्माँ फ़ौरन टोकतीं और समझातीं कि बहुत बनाव-सँवार भले घर की लड़कियों को शोभा नहीं देता। ऐसी आदत अच्छी नहीं। यदि कभी वह मुझे दर्पण के सामने देख लेतीं, तो झिड़कने लगतीं ; परन्तु अब बाबूजी की ज़िद से मेरी यह झिझक जाती रही। मेरी सास और ननदें मेरे बनाव-शृङ्गार पर

नाक-भौं सिकोड़तीं ; पर मुझे अब उनकी परवा न थी। बाबूजी की प्रेम-परिपूर्ण दृष्टि के लिए मैं झिड़कियाँ भी सह सकती थी। अब उनके और मेरे विचारों में समानता आती जाती थी। वह अधिक प्रसन्न-चित्त जान पड़ते थे। वह मेरे लिए फैशनेबुल साड़ियाँ, सुन्दर जाकटें, चमकते हुए जूते और कामदार स्लीपरें लाया करते ; पर मैं इन वस्तुओं को धारण कर किसी के सामने न निकलती, ये वस्त्र केवल बाबूजी के ही सामने पहनने के लिए रखे थे। मुझे इस प्रकार बनी-ठनी देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। स्त्री अपने पति की प्रसन्नता के लिए क्या नहीं कर सकती ! अब घर के काम-काज से मेरा अधिक समय बनाव-शृङ्गार तथा पुस्तकावलोकन में ही बीतने लगा। पुस्तकों से मुझे प्रेम होने लगा था।

यद्यपि अभी तक मैं अपने सास-ससुर का लिहाज करती थी, उनके सामने बूट और गाउन पहनकर निकलने का मुझे साहस न होता था ; पर मुझे उनकी शिक्षापूर्ण बातें न भाती थीं। मैं सोचती, जब मेरा पति सैकड़ों रुपये महीना कमाता है, तो घर में चेरी बनकर क्यों रहूँ ? यों अपनी इच्छा से चाहे जितना काम करूँ ; पर ये लोग मुझे आज्ञा देनेवाले कौन होते हैं। मुझमें आत्माभिमान की मात्रा बढ़ने लगी। यदि अम्माँ मुझे कोई काम करने को कहतीं, तो मैं अदबदाकर उसे टाल जाती। एक दिन उन्होंने कहा—सवेरे के जलपान के लिए कुछ दालमोट बना लो। मैं बात अनसुनी कर गई। अम्माँ ने कुछ देर तक मेरी राह देखी ; पर जब मैं अपने कमरे से न निकली, तो उन्हें गुस्सा आ गया। वह बड़ी ही चिड़चिड़ी प्रकृति की थीं तनिक-सी बात पर तुनक जाती थीं। उन्हें अपनी प्रतिष्ठा का इतना अभिमान था कि मुझे बिलकुल लौंडी समझती थीं। हाँ, अपनी पुत्रियों से सदैव नम्रता से पेश आतीं ; बल्कि मैं तो यह कहूँगी कि उन्हें सिर चढ़ा रखा था। वह क्रोध में भरी हुई मेरे कमरे के द्वार पर आकर बोलीं—तुमसे मैंने दालमोट बनाने को कहा था, बनाया ? मैं कुछ रुष्ट होकर बोली—अभी फुर्सत नहीं मिली।

अम्माँ—तो तुम्हारी जान में दिन-भर पड़े रहना ही बड़ा काम है ! आजकल तुम्हें हो क्या गया है ? किस घमण्ड में हो ! क्या यह सोचती हो कि मेरा पति कमाता है, तो मैं काम क्यों करूँ ? इस घमण्ड में न भूलना ! तुम्हारा पति लाख कमाये ; लेकिन घर में राज मेरा ही रहेगा। आज वह चार पैसे कमाने लगा है, तो तुम्हें मालकिन बनने की हवस हो रही है ; लेकिन उसे पालने-पोसने में

नहीं आई थीं, मैंने ही उसे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बनाया है। वाह! कल की छोकरी और अभी से यह गुमान ?

मैं रोने लगी। मुँह से एक बात न निकली। बाबूजी उस समय ऊपर कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। ये बातें उन्होंने सुनीं। उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। रात को जब वह घर आये तो बोले—देखा तुमने आज अम्माँ का क्रोध ? यही अत्याचार है, जिससे स्त्रियों को अपनी ज़िन्दगी पहाड़ मालूम होने लगती है। इन बातों से हृदय में कितनी वेदना होती है, इसका जानना असम्भव है। जीवन भार हो जाता है, हृदय जर्जर हो जाता है और मनुष्य की आत्मोन्नति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे जल, प्रकाश और वायु के बिना पौदे सूख जाते हैं। हमारे घरों में यह बड़ा अन्धेर है। अब मैं तो उनका पुत्र ही ठहरा, उनके सामने मुँह नहीं खोल सकूँगा। मेरे ऊपर उनका बहुत बड़ा अधिकार है। अतएव उनके विरुद्ध एक शब्द भी कहना मेरे लिए लज्जा की बात होगी, और यही बन्धन तुम्हारे लिए भी है। यदि तुमने उनकी बातें चुपचाप न सुन ली होतीं, तो मुझे बहुत ही दुःख होता। कदाचित् मैं विष खा लेता। ऐसी दशा में दो ही बातें सम्भव हैं, या तो सदैव उनकी घुड़कियों-झिड़कियों को सहे जाओ, या अपने लिए कोई दूसरा रास्ता ढूँढ़ो। अब इस बात की आशा करना कि अम्माँ के स्वभाव में कोई परिवर्तन होगा, बिलकुल भ्रम है। बोलो, तुम्हें क्या स्वीकार है ?

मैंने डरते-डरते कहा—आपकी जो आज्ञा हो, वह करूँ। अब कभी न पढ़ूँ-लिखूँगी, और जो कुछ वह कहेंगी, वही करूँगी। यदि वह इसी में प्रसन्न हैं तो यही सही—मुझे पढ़-लिखकर क्या करना है ?

बाबूजी—पर यह मैं नहीं चाहता। अम्माँ ने आज आरम्भ किया है। अब रोज़ बढ़ती ही जायँगी। मैं तुम्हें जितना ही सभ्य तथा विचारशील बनाने की चेष्टा करूँगा, उतना ही उन्हें बुरा लगेगा, और उनका गुस्सा तुम्हीं पर उतरेगा। उन्हें पता नहीं कि जिस आब-हवा में उन्होंने अपनी ज़िन्दगी बिताई है, वह अब नहीं रही। विचार-स्वातन्त्र्य और समयानुकूलता उनकी दृष्टि में अधर्म से कम नहीं। मैंने यह उपाय सोचा है कि किसी दूसरे शहर में चलकर अपना अड्डा जमाऊँ। मेरी वकालत भी यहाँ नहीं चलती; इसलिए किसी बहाने की भी आवश्यकता न पड़ेगी।

मैं इस तजवीज़ के विरुद्ध कुछ न बोली ; यद्यपि मुझे अकेले रहने से भय लगता था, तथापि वहाँ स्वतंत्र रहने की आशा ने मन को प्रफुल्लित कर दिया।

(३)

उसी दिन से अम्माँ ने मुझसे बोलना छोड़ दिया। महरियाँ, पड़ोसिनें और ननदें के आगे मेरा परिहास किया करतीं। यह मुझे बहुत बुरा मालूम होता था। इसके पहले यदि वह कुछ भली-बुरी बातें कह लेतीं, तो मुझे स्वीकार था। मेरे हृदय से उनकी मान-मर्यादा घटने लगी। किसी मनुष्य पर इस प्रकार कटाक्ष करना उसके हृदय से अपने आदर को मिटाने के समान है। मेरे ऊपर सबसे गुरुतर दोषारोपण यह था कि मैंने बाबूजी पर कोई मोहन-मंत्र फूँक दिया है ; वह मेरे इशारों पर चलते हैं ; पर यथार्थ में बात उल्टी ही थी।

भाद्र मास था। जन्माष्टमी का त्यौहार आया। घर में सब लोगों ने व्रत रखा। मैंने भी सदैव की भाँति व्रत रखा। ठाकुरजी का जन्म रात को बारह बजे होनेवाला था, हम सब बैठी गाती-बजाती थीं। बाबूजी इन असभ्य व्यवहारों के बिल्कुल विरुद्ध थे। वह होली के दिन रंग भी न खेलते, गाने-बजाने की तो बात ही अलग। रात को एक बजे जब मैं उनके कमरे में गई, तो मुझे समझाने लगे— इस प्रकार शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ? कृष्ण महापुरुष अवश्य थे, और उनकी पूजा करना हमारा कर्तव्य है ; पर इस गाने-बजाने से क्या फ़ायदा ? इस ढोंग का नाम धर्म नहीं है। धर्म का सम्बन्ध सचाई और ईमान से है, दिखावे से नहीं।

बाबूजी स्वयं इस मार्ग का अनुकरण करते थे। वह भगवद्गीता की अत्यन्त प्रशंसा करते ; पर उसका पाठ कभी न करते थे। उपनिषदों की प्रशंसा में उनके मुख से मानों पुष्प-वृष्टि होने लगती थी ; पर मैंने उन्हें कभी कोई उपनिषद् पढ़ते नहीं देखा। वह हिन्दू-धर्म के गूढ़ तत्त्व-ज्ञान पर लट्टू थे ; पर इसे समयानुकूल नहीं समझते थे। विशेषकर वेदान्त को तो भारत की अवनति का मूल कारण समझते थे। वह कहा करते कि इसी वेदान्त ने हमको चौपट कर दिया ; हम दुनिया के पदार्थों को तुच्छ समझने लगे, जिसका फल अब तक भुगत रहे हैं। अब उन्नति का समय है। चुपचाप बैठे रहने से निर्वाह नहीं, संतोष ने ही भारत को गारद कर दिया।

उस समय उनको उत्तर देने की शक्ति मुझमें कहाँ थी ? हाँ, अब जान पड़ता

है, कि वह योरप सभ्यता के चक्कर में पड़े हुऐ थे। अब वह स्वयं ऐसी बातें नहीं करते, वह जोश अब ठंडा हो चला है।

(४)

इसके कुछ दिन बाद हम इलाहाबाद चले आये। बाबूजी ने पहले ही एक दो-मंजिला मकान ले रखा था—सब तरह से सजा-सजाया। हमारे यहाँ पाँच नौकर थे—दो स्त्रियाँ, दो पुरुष और एक महराज। अब मैं घर के कुल काम-काज से छुट्टी पा गई। कभी जो घबराता, तो कोई उपन्यास लेकर पढ़ने लगती।

यहाँ फूल और पतील के बर्तन बहुत कम थे। चीनी की रकाबियाँ और प्याले अलमारियों में सजे रखे थे। भोजन मेज़ पर आता था। बाबूजी बड़े चाव से भोजन करते। मुझे पहले कुछ शर्म आती थी; लेकिन धीरे-धीरे मैं भी मेज़ ही पर भोजन करने लगी। हमारे पास एक सुन्दर टमटम भी थी। अब हम पैदल बिलकुल न चलते। किसी से मिलने दस पग भी जाना होता, तो गाड़ी तैयार कराई जाती। बाबूजी कहते—यही फ़ैशन है!

बाबूजी की आमदनी अभी बहुत कम थी। भली भाँति खर्च भी न चलता था। कभी-कभी मैं उन्हें चिन्ताकुल देखती तो समझाती कि जब आय इतनी कम है, तो व्यय इतना क्यों बढ़ा रखा है? कोई छोटा-सा मकान ले लो। दो नौकरों से भी काम चल सकता है; लेकिन बाबूजी मेरी बातों पर हँस देते और कहते—मैं अपनी दरिद्रता का ढिंढोरा अपने-आप क्यों पीटूँ? दरिद्रता प्रकट करना दरिद्र होने से अधिक दुःखदायी होता है। भूल जाओ कि हम लोग निर्धन हैं, फिर लक्ष्मी हमारे पास आप दौड़ी आयेगी। खर्च बढ़ना, आवश्यकताओं का अधिक होना ही द्रव्योपार्जन की पहली सीढ़ी है। इससे हमारी गुप्त शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। और हम उन कष्टों को झेलते हुए आगे पग धरने के योग्य होते हैं। संतोष दरिद्रता का दूसरा नाम है।

अस्तु, हम लोगों का खर्च दिन-दिन बढ़ता ही जाता था। हम लोग सप्ताह में तीन बार थियेटर ज़रूर देखने जाते। सप्ताह में एक बार मित्रों को भोज अवश्य ही दिया जाता। अब मुझे सूझने लगा कि जीवन का लक्ष्य सुख-भोग ही है। ईश्वर को हमारी उपासना की इच्छा नहीं। उसने हमको उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भोगने के लिए ही दी हैं। उनको भोगना ही उसकी सर्वोत्तम आराधना है। एक ईसाई लेडी मुझे पढ़ाने

तथा गाना सिखाने आने लगी। घर में एक पियानो भी आ गया। इन्हीं आनन्दों में फँसकर मैं रामायण और भक्तमाल को भूल गई। वे पुस्तकें मुझे अप्रिय मालूम होने लगीं। देवतों पर से विश्वास भी उठ गया।

धीरे धीरे यहाँ के बड़े लोगों से स्नेह और सम्बन्ध बढ़ने लगा। यह एक बिलकुल नई सोसाइटी थी। इसके रहन-सहन, आहार-व्यवहार और आचार-विचार मेरे लिए सर्वथा अनोखे थे। मैं इस सोसाइटी में ऐसी जान पड़ती, जैसे मोरों में कौआ। इन लेडियों की बातचीत कभी थियेटर और घुड़दौड़ के विषय में होती, कभी टेनिस, समाचार-पत्रों और अच्छे-अच्छे लेखकों के लेखों पर। उनके चातुर्य, बुद्धि की तीव्रता, फुर्ती और चपलता पर मुझे अचंभा होता। ऐसा मालूम होता कि वे ज्ञान और प्रकाश की पुतलियाँ हैं। वे बिना घूँघट बाहर निकलतीं। मैं उनके साहस पर चकित रह जाती। वे मुझे भी कभी-कभी अपने साथ ले जाने की चेष्टा करतीं; लेकिन मैं लज्जावश न जा सकती। मैं उन लेडियों को कभी उदास या चिन्तित न पाती। मिस्टर दास बहुत बीमार थे; परन्तु मिसेज दास के माथे पर चिन्ता का चिह्न तक न था। मिस्टर बागची नैनीताल में तपेदिक का इलाज करा रहे थे। पर मिसेज बागची नित्य टेनिस खेलने जाती थीं। इस अवस्था में मेरी क्या दशा होती, यह मैं ही जानती हूँ।

इन लेडियों की रीति-नीति में एक आकर्षण-शक्ति थी, जो मुझे खींचे लिये जाती थी। मैं उन्हें सदैव आमोद-प्रमोद के लिए उत्सुक देखती, और मेरा भी जी चाहता कि उन्हीं की भाँति मैं निस्संकोच हो जाती। उनका अँगरेजी वार्तालाप सुनकर मुझे मालूम होता कि ये देवियाँ हैं। मैं अपनी इन त्रुटियों की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया करती थी।

इसी बीच में मुझे एक खेदजनक अनुभव होने लगा; यद्यपि बाबूजी पहले से मेरा अधिक आदर करते, मुझे सदैव 'डियर-डार्लिंग' आदि कहकर पुकारते थे, तथापि मुझे उनकी बातों में एक प्रकार की बनावट मालूम होती थी। ऐसा प्रतीत होता, मानों ये बातें उनके हृदय से नहीं, केवल मुख से निकलती हैं। उनके स्नेह और प्यार में हार्दिक भावों की जगह अलंकार ज्यादा होता था; किन्तु और भी अचम्भे की बात तो यह थी कि अब मुझे बाबूजी पर वह पहले की-सी श्रद्धा न रही थी। अब उनकी सिर की पीड़ा से मेरे हृदय में पीड़ा न होती थी। मुझमें आत्म-गौरव का आविर्भाव होने लगा था। अब मैं अपना बनाव-शृङ्गार इसलिए करती थी

कि संसार में यह भी मेरा एक कर्तव्य है ; इसलिए नहीं कि मैं किसी एक पुरुष की व्रतधारिणी हूँ। अब मुझे भी अपनी सुन्दरता पर गर्व होने लगा था। मैं अब किसी दूसरे के लिए नहीं, अपने लिए जीती थी। त्याग तथा सेवा का भाव मेरे हृदय से लुप्त होने लगा था।

मैं अब भी परदा करती थी ; परन्तु हृदय अपनी सुन्दरता की सराहना सुनने के लिए व्याकुल रहता था। एक दिन मिस्टर दास तथा और भी अनेक सभ्यगण बाबूजी के साथ बैठे हुए थे। मेरे और उनके बीच में केवल एक परदे की आड़ थी। बाबूजी मेरी इस झिझक से बहुत ही लज्जित थे। इसे वह अपनी सभ्यता में काला धब्बा समझते थे। कदाचित् वह दिखाना चाहते थे कि मेरी स्त्री इसलिए परदे में नहीं है कि वह रूप तथा वस्त्राभूषणों में किसी से कम है ; बल्कि इसलिए कि अभी उसे लज्जा आती है। वह मुझे किसी बहाने से बारम्बार परदे के निकट बुलाते, जिसमें उनके मित्र मेरी सुन्दरता और वस्त्राभूषण देख लें, अन्त में कुछ दिन बाद मेरी झिझक गायब हो गई। इलाहाबाद आने के पूरे दो वर्ष बाद मैं बाबूजी के साथ बिना परदे के सैर करने लगी। सैर के बाद टेनिस की नौबत आई। अन्त को मैंने क्लब में जाकर दम लिया। पहले यह टेनिस और क्लब मुझे तमाशा-सा मालूम होता था, मानों वे लोग व्यायाम के लिए नहीं ; बल्कि फैशन के लिए टेनिस खेलने आते थे। वे कभी न भूलते थे कि हम टेनिस खेल रहे हैं। उनके प्रत्येक काम में, झुकने में, दौड़ने में, उचकने में एक कृत्रिमता होती थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि इस खेल का प्रयोजन कसरत नहीं, केवल दिखावा है।

क्लब में इससे भी विचित्र अवस्था थी। वह पूरा स्वाँग था, भद्दा और बेजोड़। लोग अँगरेजी के चुने हुए शब्दों का प्रयोग करते थे, जिनमें कोई सार न होता था, नकली हँसी हँसते थे, जिसका कोई असर न होता था, स्त्रियों की वह फूहड़ निर्लज्जता और पुरुषों की वह भाव-शून्य स्त्री-पूजा मुझे तनिक भी न भाती थी। चारों ओर अँगरेजी चाल-ढाल की एक हास्यजनक नकल थी ; परन्तु क्रमशः मैं भी वही रंग पकड़ने और उन्हीं का अनुकरण करने लगी। अब मुझे अनुभव हुआ कि इस प्रदर्शन-लोलुपता में कितनी शक्ति है। मैं अब नित्य नये शृङ्गार करती, नित्य नया रूप भरती, केवल इसलिए कि क्लब में सबकी आँखों में चुभ जाऊँ। अब मुझे बाबूजी के सेवा-सत्कार से अधिक अपने बनाव-शृङ्गार की धुन रहती थी। यहाँ तक कि यह

शौक एक नशा-सा बन गया। इतना ही नहीं, लोगों से अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर मुझे एक अभिमान-मिश्रित आनन्द का अनुभव होने लगा। मेरी लज्जाशीलता की सीमाएँ विस्तृत हो गईं। वह दृष्टिपात, जो कभी मेरे शरीर के प्रत्येक रोएँ को खड़ा कर देता, और वह हास्य-कटाक्ष, जो कभी मुझे विष खा लेने को प्रस्तुत कर देता, उनसे अब मुझे एक उन्माद-पूर्ण हर्ष होता था; परन्तु जब कभी मैं अपनी अवस्था पर आन्तरिक दृष्टि डालती तो मुझे बड़ी घबराहट होती थी। यह नाव किस घाट लगेगी? कभी-कभी इरादा करती कि क्लब न जाऊँगी; परन्तु समय आते ही फिर तैयार हो जाती। मैं अपने वश में न थी। मेरी सत्कल्पनाएँ निर्बल हो गई थीं।

(५)

दो वर्ष और बीत गये, और अब बाबूजी के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन होने लगा। वह उदास और चिंतित रहने लगे। मुझसे बहुत कम बोलते। ऐसा जान पड़ता कि इन्हें कठिन चिन्ता ने घेर रखा है, या कोई बीमारी हो गई है। मुँह बिलकुल सूखा रहता था। तनिक-तनिक-सी बात पर नौकरों से झल्लाने लगते, और बाहर बहुत कम जाते।

अभी एक ही मास पहले वह सौ काम छोड़कर क्लब अवश्य जाते थे, वहाँ गये बिना उन्हें कल न पड़ती थी; पर अब अधिकतर अपने कमरे में आरामकुर्सी पर लेटे हुए समाचार-पत्र और पुस्तकें देखा करते थे। मेरी समझ में न आता कि बात क्या है?

एक दिन उन्हें बड़े ज़ोर का बुखार आया, दिन-भर बेहोश रहे; परन्तु मुझे उनके पास बैठने में अनकुस-सा लगता था। मेरा जी एक उपन्यास में लगा हुआ था। उनके पास जाती और पल-भर में फिर लौट आती थी। टेनिस का समय आया, तो दुविधा में पड़ गई कि जाऊँ या न जाऊँ। देर तक मन में यह संग्राम होता रहा। अन्त को मैंने यही निर्णय किया कि मेरे यहाँ रहने से वह कुछ अच्छे तो हो नहीं जायँगे, इससे मेरा यहाँ बैठा रहना बिलकुल निरर्थक है। मैंने बढ़िया वस्त्र पहने, और रैकेट लेकर क्लब-घर जा पहुँची। वहाँ मैंने मिसेज़ दास और मिसेज़ बागची से बाबूजी की दशा बतलाई, और सजल नेत्र चुपचाप बैठी रही। जब सब लोग कोर्ट में जाने लगे और मिस्टर दास ने मुझसे चलने को कहा, तो मैं ठंडी आह भरकर कोर्ट में आ पहुँची और खेलने लगी।

आज से तीन वर्ष पूर्व बाबूजी को इसी प्रकार बुखार आ गया था, मैं रात-भर उन्हें पंखा झलती रही थी, हृदय व्याकुल था, और यही जी चाहता था कि इनके बदले मुझे बुखार आ जाय ; परन्तु यह उठ बैठें ! पर अब हृदय तो स्नेह-शून्य हो गया था, दिखावा अधिक था। अकेले रोने की मुझमें क्षमता न रह गई थी। मैं सदैव की भाँति रात को नौ बजे लौटी। बाबूजी का जी कुछ अच्छा जान पड़ा। उन्होंने मुझे केवल दबी दृष्टि से देखा और करवट बदल ली ; परन्तु मैं लेटी, तो मेरा हृदय मुझे अपनी स्वार्थपरता और प्रमोदासक्ति पर धिक्कारता रहा।

मैं अब अँगरेजी उपन्यासों को समझने लगी थी। हमारी बात-चीत अधिक उत्कृष्ट और आलोचनात्मक होती थी।

हमारी सभ्यता का आदर्श अब बहुत ही उच्च हो गया था। हमको अब अपनी मित्र मंडली से बाहर दूसरों से मिलने-जुलने में संकोच होता था। अब हम अपने से छोटी श्रेणी के लोगों से बोलने में अपना अपमान समझते थे। नौकरों को अपना नौकर समझते थे, और बस, हमको उनके निजी मामलों से कुछ मतलब न था। हम उनसे अलग रहकर उनके ऊपर अपना रोब जमाये रखना चाहते थे। हमारी इच्छा यह थी कि वह हम लोगों को साहब समझें। हिन्दुस्तानी स्त्रियों को देखकर मुझे उनसे घृणा होती थी ; उनमें शिष्टता न थी। ख़ैर।

बाबूजी का जी दूसरे दिन भी न सँभला। मैं क्लब न गई ; परन्तु जब लगातार तीन दिन तक इन्हें बुखार आता गया, और मिसेज़ दास ने बारम्बार एक नर्स बुलाने का आदेश किया, तो मैं सहमत हो गई। उस दिन से रोगी की सेवा-शुश्रूषा से छुट्टी पाकर बड़ा हर्ष हुआ। यद्यपि दो दिन मैं क्लब न गई थी ; परन्तु मेरा जी वहीं लगा रहता था ; बल्कि अपने भीरुता-पूर्ण त्याग पर क्रोध भी आता था।

एक दिन तीसरे पहर मैं कुर्सी पर लेटी हुई एक अँगरेज़ी पुस्तक पढ़ रही थी। अचानक मन में यह विचार उठा कि बाबूजी का बुखार असाध्य हो जाय, तो ? पर इस विचार से लेश-मात्र भी दुःख न हुआ। मैं इस शोकमय कल्पना का मन-ही-मन आनन्द उठाने लगी। मिसेज़ दास, मिसेज़ नायडू, मिसेज़ श्रीवास्तव, मिस खरे, मिसेज़ शरमा अवश्य ही मातमपुर्सी करने आवेंगी। उन्हें देखते ही मैं सजलनेत्र हो उठूँगी, और कहूँगी—बहनो ! मैं लुट गई। हाय, मैं लुट गई। अब मेरा जीवन अँधेरी रात के भयावह वन या श्मशान के दीपक के समान है ! परन्तु मेरी अवस्था पर

दुःख न प्रकट करो। मुझ पर जो पड़ेगी, उसे मैं उस महान् आत्मा के मोक्ष के विचार से सह लूँगी।

मैंने इस प्रकार मन में एक शोक-पूर्ण व्याख्यान की रचना कर डाली। यहाँ तक कि अपने उस वस्त्र के विषय में भी निश्चय कर लिया, जो मृतक के साथ श्मशान जाते समय पहनूँगी।

इस घटना की शहर-भर में चर्चा हो जायगी। सारे कैंटोन्मेंट के लोग मुझे समवेदना के पत्र भेजेंगे। तब मैं उनका उत्तर समाचार-पत्रों में प्रकाशित करा दूँगी कि मैं प्रत्येक शोक-पत्र का उत्तर देने में असमर्थ हूँ। हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, उसे रोने के सिवा और किसी काम के लिए समय नहीं है। मैं इस हमदर्दी के लिए उन लोगों की कृतज्ञ हूँ, और उनसे विनयपूर्वक निवेदन करती हूँ कि वे मृतक की आत्मा की सद्गति के निमित्त ईश्वर से प्रार्थना करें।

मैं इन्हीं विचारों में डूबी हुई थी कि नर्स ने आकर कहा—आपको साहब याद करते हैं। यह मेरे क्लब जाने का समय था। मुझे उनका बुलाना अखर गया। लेकिन क्या करती, किसी तरह उनके पास गई। बाबूजी को बीमार हुए लगभग एक मास हो गया था। वह अत्यन्त दुर्बल हो रहे थे। उन्होंने मेरी ओर विनय-पूर्ण दृष्टि से देखा। उसमें आँसू भरे हुए थे। मुझे उन पर दया आई। बैठ गई, और ढाढ़स देते हुए बोली—क्या करूँ? कोई दूसरा डाक्टर बुलाऊँ?

बाबूजी आँखें नीची करके अत्यन्त करुण-भाव से बोले—मैं यहाँ कभी नहीं अच्छा हो सकता, मुझे अम्माँ के पास पहुँचा दो।

मैंने कहा - क्या आप समझते हैं कि वहाँ आपकी चिकित्सा यहाँ से अच्छी होगी?

बाबूजी बोले—क्या जाने क्यों मेरा जी अम्माँ के दर्शनों को लालायित हो रहा है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं वहाँ बिना दवा-दर्पन के भी अच्छा हो जाऊँगा।

मैं—यह आपका केवल विचार-मात्र है।

बाबूजी—शायद ऐसा ही हो; लेकिन मेरी यह विनय स्वीकार करो। मैं इस रोग से नहीं, इस जीवन से ही दुःखित हूँ।

मैंने अचरज से उनकी ओर देखा।

बाबूजी फिर बोले—हाँ, मैं इस ज़िन्दगी से तंग आ गया हूँ। मैं अब समझ रहा हूँ, मैं जिस स्वच्छ, लहराते हुए निर्मल जल की ओर दौड़ा जा रहा था, वह मरुभूमि है। मैं इस प्रकार के जीवन के बाहरी रूप पर लट्टू हो रहा था; परन्तु अब मुझे उसकी आन्तरिक अवस्थाओं का बोध हो रहा है। इन चार वर्षों में मैंने इस उपवन में खूब भ्रमण किया, और उसे आदि से अन्त तक कंटकमय पाया। यहाँ न तो हृदय की शांति है, न आत्मिक आनन्द। यह एक उन्मत्त, अशान्तिमय, स्वार्थ-पूर्ण, विलास-युक्त जीवन है। यहाँ न नीति है न धर्म, न सहानुभूति, न सहृदयता। परमात्मा के लिए मुझे इस अग्नि से बचाओ। यदि और कोई उपाय न हो तो अम्माँ को एक पत्र ही लिख दो। वह अवश्य यहाँ आवेंगी। अपने अभागे पुत्र का दुःख उनसे न देखा जायगा। उन्हें इस सोसायटी की हवा अभी नहीं लगी, वह आवेंगी। उनकी वह ममता-पूर्ण दृष्टि, वह स्नेह-पूर्ण शुश्रूषा मेरे लिए सौ औषधियों का काम करेगी। उनके मुख पर वह ज्योति प्रकाशमान होगी, जिसके लिए मेरे नेत्र तरस रहे हैं। उनके हृदय में स्नेह है, विश्वास है। यदि उनकी गोद में मैं मर भी जाऊँ तो मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।

मैं समझी कि यह बुखार की बकझक है। नर्स से कहा—ज़रा इनका टैंपरेचर तो लो, मैं अभी डाक्टर के पास जाती हूँ। मेरा हृदय एक अज्ञात भय से काँपने लगा। नर्स ने थरमामीटर निकाला; परन्तु ज्यों ही वह बाबूजी के समीप गई, उन्होंने उसके हाथ से वह यन्त्र छीनकर पृथ्वी पर पटक दिया। उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। फिर मेरी ओर एक अवहेलना-पूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती हो कि मैं क्लब-घर जाती हूँ, जिसके लिए तुमने ये वस्त्र धारण किये हैं और गाउन पहनी है। खैर, उधर घूमती हुई यदि डाक्टर के पास जाना, तो उनसे कह देना कि यहाँ टैंपरेचर उस बिन्दु पर आ पहुँचा है, जहाँ आग लग जाती है।

मैं और भी अधिक भयभीत हो गई। हृदय में एक करुण चिन्ता का संचार होने लगा। गला भर आया। बाबूजी ने नेत्र मूँद लिये थे और उनकी साँस वेग से चल रही थी। मैं द्वार की ओर चली कि किसी को डाक्टर के पास भेजूँ। यह फटकार सुनकर स्वयं कैसे जाती! इतने में बाबूजी उठ बैठे और विनीत भाव से बोले—श्यामा, मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ। बात दो सप्ताह से मन में-

थी ; पर साहस न हुआ। आज मैंने निश्चय कर लिया है कि कह ही डालूँ। मैं अब फिर अपने घर जाकर वही पहले की-सी जिन्दगी बिताना चाहता हूँ। मुझे अब इस जीवन से घृणा हो गई है, और यही मेरी बीमारी का मुख्य कारण है। मुझे शारीरिक नहीं, मानसिक कष्ट है। मैं फिर तुम्हें वही पहले की-सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलनेवाली, पूजा करनेवाली, रामायण पढ़नेवाली, घर का काम काज करनेवाली, चरखा कातनेवाली, ईश्वर से डरनेवाली, पति-श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ, मैं विश्वास करता हूँ, तुम मुझे निराश न करोगी। तुमको सोलहों आने अपनी बनाना और सोलहों आने तुम्हारा बनना चाहता हूँ। मैं अब समझ गया कि उसी सादे पवित्र जीवन में वास्तविक सुख है। बोलो, स्वीकार है? तुमने सदैव मेरी आज्ञाओं का पालन किया है, इस समय निराश न करना ; नहीं तो इस कष्ट और शोक का न जाने कितना भयंकर परिणाम हो!

मैं सहसा कोई उत्तर न दे सकी। मन में सोचने लगी—इस स्वतन्त्र जीवन में कितना सुख था? ये मज़े वहाँ कहाँ? क्या इतने दिन स्वतन्त्र वायु में विचरण करने के पश्चात् फिर उसी पिंजड़े में जाऊँ? वही लौंडी बनकर रहूँ? क्यों इन्होंने मुझे वर्षों स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया, वर्षों देवतों की, रामायण की, पूजा-पाठ की, व्रत-उपवास की बुराई की, हँसी उड़ाई? अब जब मैं उन बातों को भूल गई, उन्हें मिथ्या समझने लगी, तो फिर मुझे उसी अन्धकूप में ढकेलना चाहते हैं। मैं तो इन्हीं की इच्छा के अनुसार चलती हूँ, फिर मेरा अपराध क्या है? लेकिन बाबूजी के मुख पर एक ऐसी दीनता-पूर्ण विवशता थी कि मैं प्रत्यक्ष अस्वीकार न कर सकी। बोली—आख़िर आपको यहाँ क्या कष्ट है?

मैं उनके विचारों की तह तक पहुँचना चाहती थी।

बाबूजी फिर उठ बैठे, और मेरी ओर कठोर दृष्टि से देखकर बोले—बहुत ही अच्छा होता कि तुम इस प्रश्न को मुझसे पूछने के बदले अपने ही हृदय से पूछ लेतीं। क्या अब मैं तुम्हारे लिए वही हूँ, जो आज से तीन वर्ष पहले था? जब मैं तुमसे अधिक शिक्षा-प्राप्त, अधिक बुद्धिमान्, अधिक जानकार होकर तुम्हारे लिए वह नहीं रहा जो पहले था—तुमने चाहे इसका अनुभव न किया हो ; परन्तु मैं स्वयं कर रहा हूँ—तो मैं कैसे अनुमान करूँ कि उन्हीं भावों ने तुम्हें स्खलित न किया होगा? नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष चिह्न देख पड़ते हैं कि तुम्हारे हृदय पर उन भावों का

और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। तुमने अपने को ऊपरी बनाव-चुनाव और विलास के भँवर में डाल दिया है, और तुम्हें उसकी लेशमात्र भी सुध नहीं है। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि सभ्यता, स्वेच्छाचारिता का भूत स्त्रियों के कोमल हृदय पर बड़ी सुगमता से कब्जा कर सकता है। क्या अब से तीन वर्ष पूर्व भी तुम्हें यह साहस हो सकता था कि मुझे इस दशा में छोड़कर किसी पड़ोसिन के यहाँ गाने-बजाने चली जातीं? मैं बिछौने पर पड़ा रहता, और तुम किसी के घर जाकर कलोलें करतीं? स्त्रियों का हृदय आधिक्य-प्रिय होता है; परन्तु इस नवीन आधिक्य के बदले मुझे वह पुराना आधिक्य कहीं ज्यादा पसन्द है। उस आधिक्य का फल आत्मिक एवं शारीरिक अभ्युदय और हृदय की पवित्रता थी; पर इस आधिक्य का परिणाम है छिछोरापन, निर्लज्जता, दिखावा और स्वेच्छाचार। उस समय यदि तुम इस प्रकार मिस्टर दास के सम्मुख हँसतीं-बोलतीं, तो मैं या तो तुम्हें मार डालता, या स्वयं विष-पान कर लेता; परन्तु बेहयाई ऐसे जीवन का प्रधान तत्त्व है। मैं सब कुछ स्वयं देखता और सहता हूँ, कदाचित् सहे भी जाता, यदि इस बीमारी ने मुझे सचेत न कर दिया होता। अब यदि तुम यहीं बैठी भी रहो, तो मुझे सन्तोष न होगा; क्योंकि मुझे यह विचार दुःखित करता रहेगा कि तुम्हारा हृदय यहाँ नहीं है। मैंने अपने को उस इन्द्रजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है, जहाँ धन का नाम मान है, इन्द्रिय-लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार-स्वातंत्र्य। बोलो, मेरा प्रस्ताव स्वीकार है?

मेरे हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बाबूजी का अभिप्राय पूर्णतया हृदयंगम हो गया। अभी हृदय में कुछ पुरानी लज्जा बाकी थी। वह यंत्रणा असह्य हो गई। लज्जा पुनर्जीवित हो उठी। अन्तरात्मा ने कहा—अवश्य! मैं अब वह नहीं हूँ, जो पहले थी। उस समय मैं इनको अपना इष्टदेव मानती थी, इनकी आज्ञा शिरोधार्य थी; पर अब वह मेरी दृष्टि में एक साधारण मनुष्य हैं। मिस्टर दास का चित्र मेरे नेत्रों के सामने खिंच गया। कल मेरे हृदय पर इस दुरात्मा की बातें का कैसा नशा छा गया था, यह सोचते ही नेत्र लज्जा से झुक गये। बाबूजी की आन्तरिक अवस्था उनके मुखड़े ही से प्रकाशमान हो रही थी। स्वार्थ और विलास-लिप्सा के विचार मेरे हृदय से दूर हो गये थे। उनके बदले ये शब्द ज्वलंत अक्षरों में लिखे हुए नजर आये—तूने फैशन और वस्त्राभूषणों में अवश्य उन्नति की है, तुझमें अपने

स्वार्थों का ज्ञान हो आया है, तुममें जीवन के सुख भोगने की योग्यता अधिक आ गई है, तू अब अधिक गर्विणी, हठ दम्भ और शिक्षा-सम्पन्न भी हो गई; पर तेरे आत्मिक-बल का विनाश हो गया; क्योंकि तू अपने कर्तव्य को भूल गई।

मैं दोनों हाथ जोड़कर बाबूजी के चरणों पर गिर पड़ी। कंठ बँध गया, एक भी मुँह से न निकला, अश्रु-धारा बह चली।

अब मैं फिर अपने घर पलटा आई हूँ। अम्माँजी अब मेरा अधिक सम्मान करती हैं, बाबूजी सन्तुष्ट देख पड़ते हैं। वह अब स्वयं प्रतिदिन संध्या-वन्दन करते हैं।

मिसेज़ दास के पत्र कभी-कभी आते हैं। वह इलाहाबादी सोसाइटी के नये समाचारों से भरे होते हैं। मिस्टर दास और मिस भाटिया के संबन्ध में कई बातें उड़ रही हैं। मैं इन पत्रों का उत्तर तो दे देती हूँ, परन्तु चाहती हूँ कि वे अब न आते, तो अच्छा होता। वह मुझे उन दिनों को याद दिलाते हैं, जिन्हें मैं भूल जाना चाहती हूँ।

कल बाबूजी ने बहुत-सी पुरानी पोथियाँ अग्निदेव को अर्पण कीं। उनमें बाइबल की कई पुस्तकें थीं। वह अब अँगरेज़ी-पुस्तकें बहुत कम पढ़ते हैं। कार्लाइल, रस्किन और एमरसन के सिवा और कोई पुस्तक पढ़ते मैंने नहीं देखा। मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत में फिर वही आनन्द प्राप्त होने लगा। चरखा अब पहले से अधिक चलाती हूँ; क्योंकि इस बीच में चरखे ने खूब प्रचार पा लिया है।

बैंक का दिवाला

लखनऊ नेशनल-बैंक के बड़े दफ्तर में लाला साईंदास आरामकुर्सी पर लेटे हुए शेयरों का भाव देख और सोच रहे थे कि इस बार हिस्सेदारों को मुनाफ़ा कहाँ से दिया जायगा ? चाय, कोयला या जूट के हिस्से खरीदने, चाँदी, सोने या रुई का सट्टा करने का इरादा करते; लेकिन नुकसान के भय से कुछ तय न कर पाते थे। नाज के व्यापार में इस बार बड़ा घाटा रहा; हिस्सेदारों के ढाढ़स के लिए हानि-लाभ का कल्पित ब्योरा दिखाना पड़ा और नफ़ा पूँजी से देना पड़ा। इससे फिर नाज के व्यापार में हाथ डालते जी काँपता था।

पर रुपये को बेकार डाल रखना असम्भव था। दो-एक दिन में उसे कहीं-न-कहीं लगाने का उचित उपाय करना ज़रूरी था; क्योंकि डाइरेक्टरों की तिमाही बैठक एक ही सप्ताह में होनेवाली थी, और यदि उस समय कोई निश्चय न हुआ, तो आगे तीन महीने तक फिर कुछ न हो सकेगा, और छःमाही के मुनाफ़े के बँटवारे के समय फिर वही फरजी कार्रवाई करनी पड़ेगी, जिसका बार-बार सहन करना बैंक के लिए कठिन है। बहुत देर तक इस उलझन में पड़े रहने के बाद साईंदास ने घण्टी बजाई। इस पर बगल के दूसरे कमरे से एक बंगाली बाबू ने सिर निकालकर झाँका।

साईंदास—ताता-स्टील कम्पनी को एक पत्र लिख दीजिए कि अपना नया बैलेंस-शीट भेज दें।

बाबू—उन लोगों को रुपया का परवा नहीं। चिट्ठी का जवाब नहीं देता।

साईंदास—अच्छा, नागपुर की स्वदेशी मिल को लिखिए।

बाबू—इसका कारोबार अच्छा नहीं है। अभी उसके मजदूरों ने हड़ताल किया था। दो महीना तक मिल बन्द रहा।

साईंदास—अजी, तो कहीं लिखो भी! तुम्हारी समझ में सारी दुनिया बेईमानों से भरी है।

बाबू—बाबा, लिखने को तो हम सब जगह लिख दें; मगर खाली लिख देने से तो कुछ लाभ नहीं होता।

लाला साईंदास अपनी कुल-प्रतिष्ठा और मर्यादा के कारण बैंक के मैनेजिंग डाइरेक्टर हो गये थे; पर व्यावहारिक बातों से अपरिचित थे। यही बंगाली बाबू इनके सलाहकार थे, और बाबू साहब को किसी कारखाने या कंपनी पर भरोसा न था। इन्हीं के अविश्वास के कारण पिछले साल बैंक का रुपया सन्दूक से बाहर न निकल सका था, और अब वही रंग फिर दिखाई देता था। साईंदास को इस कठिनाई से बचने का कोई उपाय न सूझता था। न इतनी हिम्मत थी कि अपने भरोसे किसी व्यापार में हाथ डालें। बेचैनी की दशा में उठकर कमरे में टहलने लगे। दरबान ने आकर खबर दी—बरहल की महारानी की सवारी आई है।

(२)

लाला साईंदास चौंक पड़े। बरहल की महारानी को लखनऊ आये तीन-चार दिन हुए थे और हर एक के मुँह से उन्हीं की चर्चा सुनाई देती थी। कोई उनके पहनावे पर मुग्ध था, कोई सुन्दरता पर, कोई उनकी स्वच्छन्द वृत्ति पर। यहाँ तक कि उनकी दासियाँ और सिपाही आदि भी लोगों की चर्चा के पात्र बने हुए थे। रायल होटल के द्वार पर दर्शकों की भीड़-सी लगी रहती है। कितने ही शौकीन बेफ़िकरे लोग इतर-फ़रोश, बज़ाज़ या तम्बाकूगर का वेष धरकर उनका दर्शन कर चुके थे। जिधर से महरानी की सवारी निकल जाती, दर्शकों के ठट लग जाते थे। वाह-वाह, क्या शान है! ऐसी इराक़ी जोड़ी लाट साहब के सिवा किसी राजा-रईस के यहाँ तो शायद ही निकले, और सजावट भी क्या ख़ूब है! भई, ऐसे गोरे आदमी तो यहाँ भी नहीं दिखाई देते। यहाँ के रईस तो मृगांक, चन्द्रोदय और ईश्वर जाने, क्या-क्या खाक-बला खाते हैं; पर किसी के बदन पर तेज या प्रकाश का नाम नहीं। ये लोग न जाने क्या भोजन करते और किस कुएँ का पानी पीते हैं, कि जिसे देखिए, ताज़ा सेब बना हुआ है! यह सब जल-वायु का प्रभाव है।

बरहल उत्तर दिशा में नैपाल के समीप, अंग्रेज़ी-राज्य में एक रियासत थी। यद्यपि जनता उसे बहुत मालदार समझती थी; पर वास्तव में उस रियासत की आमदनी दो लाख से अधिक न थी। हाँ, क्षेत्रफल बहुत विस्तृत था। बहुत-सी भूमि ऊसर और उजाड़ थी। बसा हुआ भाग भी पहाड़ी और बंजर था। ज़मीन बहुत सस्ती उठती थी।

लाला साईंदास ने तुरन्त अलगनी से रेशमी सूट उतारकर पहन लिया

मेज़ पर आकर इस शान से बैठ गये, मानों राजा-रानियों का यहाँ आना कोई साधारण बात नहीं। दफ्तर के क्लर्क भी सँभल गये। सारे बैंक में सन्नाटे की हलचल पैदा हो गई। दरबान ने पगड़ी सँभाली। चौकीदार ने तलवार निकाली, और अपने स्थान पर खड़ा हो गया। पंखा-कुली की मीठी नींद भी टूटी और बंगाली बाबू महारानी के स्वागत के लिए दफ्तर से बाहर निकले।

साईंदास ने बाहरी ठाट तो बना लिया, किन्तु चित्त आशा और भय से चंचल हो रहा था। एक रानी से व्यवहार करने का यह पहला ही अवसर था; घबराते थे कि बात करते बने या न बने। रईसों का मिजाज आसमान पर होता है। मालूम नहीं, मैं बात करने में कहाँ चूक जाऊँ। उन्हें इस समय अपने में एक कमी मालूम हो रही थी। वह राजसी नियमों से अनभिज्ञ थे। उनका सम्मान किस प्रकार करना चाहिए, उनसे बातें करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, उनकी मर्यादा-रक्षा के लिए कितनी नम्रता उचित है, इस प्रकार के प्रश्नों में वह बड़े असमंजस में पड़े हुए थे, और जी चाहता था कि किसी तरह परीक्षा से शीघ्र ही छुटकारा हो जाय। व्यापारियों, मामूली जमींदारों या रईसों से वह रुखाई का और सफाई का बर्ताव किया करते थे और पढ़े-लिखे सज्जनों से शील और शिष्टता का। उन अवसरों पर उन्हें किसी विशेष विचार की आवश्यकता न होती थी; पर इस समय बड़ी परेशानी हो रही थी। जैसे कोई लंका-वासी तिब्बत में आ गया है, जहाँ के रस्म-रवाज और बात-चीत का उसे ज्ञान न हो।

एकाएक उनकी दृष्टि घड़ी पर पड़ी। तीसरे पहर के चार बज चुके थे; परन्तु घड़ी अभी दोपहर की नींद में मग्न थी। तारीख की सुई ने दौड़ में समय को भी मात कर दिया था। वह जल्दी से उठे कि घड़ी को ठीक कर दें, इतने में महारानी का कमरे में पदार्पण हुआ। साईंदास ने घड़ी को छोड़ा और महारानी के निकट जा बगल में खड़े हो गये। निश्चय न कर सके कि हाथ मिलावें या झुककर सलाम करें। रानीजी ने स्वयं हाथ बढ़ाकर उन्हें इस उलझन से छुड़ाया।

जब लोग कुर्सियों पर बैठ गये, तो रानी के प्राइवेट-सेक्रेटरी ने व्यवहार की बात-चीत शुरू की। बरहल की पुरानी गाथा सुनाने के बाद उसने उन उन्नतियों का वर्णन किया, जो रानी साहब के प्रयत्न से हुई थीं। इस समय नहरों की एक शाखा निकालने लिए दस लाख रुपये की आवश्यकता थी; परन्तु उन्होंने कए

हिन्दुस्तानी बैंक से ही व्यवहार करना अच्छा समझा। अब यह निर्णय नेशनल बैंक के हाथ में था कि वह इस अवसर से लाभ उठाना चाहता है या नहीं?

बंगाली बाबू—हम रुपया दे सकता है; मगर कागज-पत्तर देखे बिना कुछ नहीं कर सकता।

सेक्रेटरी—आप कोई जमानत चाहते हैं?

साईंदास उदारता से बोले—महाशय, जमानत के लिए आपकी जबान ही काफ़ी है।

बंगाली बाबू—आपके पास रियासत का कोई हिसाब-किताब है?

लाला साईंदास को अपने हेडक्लर्क का दुनियादारी का बर्ताव अच्छा न लगता था। वह इस समय उदारता के नशे में चूर थे। महारानी की सूरत ही पक्की जमानत थी। उनके सामने कागज़ और हिसाब का वर्णन करना बनियापन जान पड़ता था, जिससे अविश्वास की गंध आती है।

महिलाओं के सामने हम शील और संकोच के पुतले बन जाते हैं। साईंदास बंगाली बाबू की ओर क्रूर-कठोर दृष्टि से देखकर बोले—कागज़ों की जाँच कोई आवश्यक बात नहीं है, केवल हमको विश्वास होना चाहिए।

बंगाली बाबू—डाइरेक्टर लोग कभी न मानेगा।

साईंदास—हमको इसकी परवा नहीं; हम अपनी ज़िम्मेदारी पर रुपये दे सकते हैं।

रानी ने साईंदास की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से देखा। उनके होठों पर हलकी मुस्कराहट दिखलाई पड़ी।

(३)

परन्तु डाइरेक्टरों ने हिसाब-किताब, आय-व्यय देखना आवश्यक समझा, और यह काम लाला साईंदास के ही सिपुर्द हुआ; क्योंकि और किसी को अपने काम से फुर्सत न थी कि वह एक पूरे दफ्तर का मुआएना करता। साईंदास ने नियम-पालन किया। तीन-चार दिन तक हिसाब जाँचते रहे, तब अपने इतमीनान के अनुकूल रिपोर्ट लिखी। मामला तय हो गया। दस्तावेज़ लिखा गया, रुपये दे दिये गये। नौ रुपये सैकड़े ब्याज ठहरा।

तीन साल तक बैंक के कारोबार में अच्छी उन्नति हुई। छठे महीने बिना कहे

उनके पैंतालीस हजार रुपयों की थैली दफ्तर में आ जाती थी। व्यवहारियों को पाँच रुपये सैकड़े ब्याज दे दिया जाता था। हिस्सेदारों को सात रुपये सैकड़े लाभ था।

साईंदास से सब लोग प्रसन्न थे, सब लोग उनकी सूझ-बूझ की प्रशंसा करते थे। यहाँ तक कि बंगाली बाबू भी धीरे-धीरे उनके कायल होते जाते थे। साईंदास उनसे कहा करते—बाबूजी, विश्वास संसार से न लुप्त हुआ है, और न होगा। सब पर विश्वास रखना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। जिस मनुष्य के चित्त से विश्वास जाता रहता है, उसे मृतक समझना चाहिए। उसे जान पड़ता है, मैं चारों ओर शत्रुओं से घिरा हुआ हूँ। बड़े-से-बड़े सिद्ध-महात्मा भी उसे रँगे-सियार जान पड़ते हैं। सच्चे-से-सच्चे देश-प्रेमी उसकी दृष्टि में अपनी प्रशंसा के भूखे ही ठहरते हैं। संसार उसे धोखे और छल से परिपूर्ण दिखाई देता है। यहाँ तक कि उसके मन से परमात्मा पर श्रद्धा और भक्ति लुप्त हो जाती है। एक प्रसिद्ध फिलास्फर का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य को जब तक कि उसके विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न पाओ, भला मानस समझो। वर्तमान शासन-प्रथा इसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर घटित है। और, घृणा तो किसी से करनी ही न चाहिए। हमारी आत्माएँ पवित्र हैं। उनसे घृणा करना परमात्मा से घृणा करने के समान है। यह मैं नहीं कहता कि संसार में कपट-छल है ही नहीं। है, और बहुत अधिकता से है; परन्तु उसका निवारण अविश्वास से नहीं, मानव-चरित्र के ज्ञान से होता है, और यह एक ईश्वर-दत्त गुण है। मैं यह दावा तो नहीं करता; परन्तु मुझे विश्वास है कि मैं मनुष्य को देखकर उसके आंतरिक भावों तक पहुँच जाता हूँ। कोई कितना ही वेष बदले, रंग-रूप सँवारे; परन्तु मेरी अन्तर्दृष्टि को धोखा नहीं दे सकता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है, और अविश्वास से अविश्वास। यह प्राकृतिक नियम है। जिस मनुष्य को आप शुरू से ही धूर्त, कपटी, दुर्जन समझ लेंगे, वह कभी आपसे निष्कपट व्यवहार न करेगा। वह एकाएक आपको नीचा दिखाने का यत्न करेगा। इसके विपरीत आप एक चोर पर भी भरोसा करें, तो वह आपका दास हो जायगा। सारे संसार को लूटे; परन्तु आपको धोखा न देगा। वह कितना ही कुकर्मी, अधर्मी क्यों न हो; पर आप उसके गले में विश्वास की जंजीर डालकर उसे जिस ओर चाहें, ले जा सकते हैं। यहाँ तक कि वह आपके हाथों पुण्यात्मा भी बन सकता है।

बंगाली बाबू के पास इन दार्शनिक तर्कों का कोई उत्तर न था।

(४)

चौथे वर्ष की पहली तारीख थी। लाला साईंदास बैंक के दफ्तर में बैठे डाकिये की राह देख रहे थे। आज बरहल से पैंतालीस हजार रुपये आवेंगे। अबकी उनका इरादा था कि कुछ सजावट के सामान और मोल ले लें। अब तक बैंक में टेलीफोन नहीं था। उसका भी तख़मीना मँगा लिया था। आशा की आभा चेहरे से झलक रही थी। बंगाली बाबू से हँसकर कहते थे—इस तारीख को मेरे हाथों में अदबदाके खुजली होने लगती है। आज भी हथेली खुजला रही है। कभी दफ्तरी से कहते—अरे मियाँ शराफत, ज़रा शगुन तो विचारो; सिर्फ सूद-ही-सूद आ रहा है, या दफ्तरवालों के लिए नज़राना-शुकराना भी। आशा का प्रभाव कदाचित् स्थान पर भी होता है। बैंक आज भी खिला हुआ दिखाई पड़ता था।

डाकिया ठीक समय पर आया। साईंदास ने लापरवाही से उसकी ओर देखा। उसने अपनी थैली से कई रजिस्टरी लिफाफे निकाले। साईंदास ने उन लिफ़ाफ़ों को उड़ती निगाह से देखा। बरहल का कोई लिफ़ाफ़ा न था। न बीमा, न मुहर, न वह लिखावट। कुछ निराशा-सी हुई। जी में आया, डाकिये से पूछें, कोई और रजिस्टरी रह तो नहीं गई? पर रुक गये। दफ्तर के क्लर्कों के सामने इतना अधैर्य अनुचित था; किन्तु जब डाकिया चलने लगा, तब उनसे न रहा गया। पूछ ही बैठे—अरे भाई, कोई बीमा-लिफ़ाफ़ा रह तो नहीं गया? आज उसे आना चाहिए था। डाकिये ने कहा— सरकार, भला ऐसी बात हो सकती है! और कहीं भूल-चूक चाहे हो भी जाय; पर आपके काम में कहीं भूल हो सकती है?

साईंदास का चेहरा उतर गया, जैसे कच्चे रंग पर पानी पड़ जाय। डाकिया चला गया, तो बंगाली बाबू से बोले—यह देर क्यों हुई? और तो कभी ऐसा न होता था!

बंगाली बाबू ने निष्ठुर भाव से उत्तर दिया—किसी कारण से देरी हो गया होगा। घबराने का कोई बात नहीं।

निराशा असंभव को संभव बना देती है। साईंदास को इस समय यह ख्याल हुआ कि कदाचित् पारसल से रुपये आते हों। हो सकता है, तीन हजार अशर्फ़ियों का पारसल करा दिया हो; यद्यपि इस विचार को औरों पर प्रकट करने का उन्हें साहस न हुआ, पर उन्हें यह आशा उस समय तक बनी रही, जब तक पार्सलवाला

डाकिया वापस नहीं गया। अन्त में संध्या को वह बेचैनी की दशा में उठकर घर चले गये। अब खत या तार का इन्तज़ार था। दो-तीन बार झुँझलाकर उठे, डाँटकर पत्र लिखूँ और साफ़-साफ़ कह दूँ कि लेन-देन के मामले में वादा पूरा न करना विश्वास-घात है। एक दिन की देर भी बैंक के लिए घातक हो सकती है। इससे यह होगा कि फिर कभी ऐसी शिकायत करने का अवसर न मिलेगा; परन्तु फिर कुछ सोचकर न लिखा।

शाम हो गई थी, कई मित्र आ गये। गपशप होने लगी। इतने में पोस्टमैन ने शाम की डाक दी। यों वह पहले अखबारों को खोला करते; पर आज चिट्ठियाँ खोलीं; किन्तु बरहल का कोई खत न था। तब बेमन हो एक अँगरेजी अखबार खोला। पहले ही तार का शीर्षक देखकर उनका ख़ून सर्द हो गया। लिखा था—

'कल शाम को बरहल की महारानीजी का तीन दिन की बीमारी के बाद देहान्त हो गया।'

इसके आगे एक संक्षिप्त नोट में यह लिखा हुआ था—'बरहल की महारानी की अकाल मृत्यु केवल इस रियासत के लिए ही नहीं; किन्तु समस्त प्रान्त के लिए एक शोक-जनक घटना है। बड़े-बड़े भिषगाचार्य (वैद्यराज) अभी रोग की परख भी न कर पाये थे कि मृत्यु ने काम तमाम कर दिया। रानीजी को सदैव अपनी रियासत की उन्नति का ध्यान रहता था। उनके थोड़े-से राज्य-काल में ही उनसे रियासत को जो लाभ हुए हैं, वे चिरकाल तक स्मरण रहेंगे। यद्यपि यह मानी हुई बात थी कि राज्य उनके बाद दूसरे के हाथ में जायगा, तथापि यह विचार कभी रानी साहब के कर्तव्य-पालन का बाधक नहीं बना। शास्त्रानुसार उन्हें रियासत की ज़मानत पर ऋण लेने का अधिकार न था, परन्तु प्रजा की भलाई के विचार से उन्हें कई बार इस नियम का उल्लंघन करना पड़ा। हमें विश्वास है कि यदि वह कुछ दिन और जीवित रहतीं, तो रियासत को ऋण से मुक्त कर देतीं। उन्हें रात-दिन इसका ध्यान रहता था। परन्तु इस असामयिक मृत्यु ने अब यह फैसला दूसरों के अधीन कर दिया। देखना चाहिए, इन ऋणों का क्या परिणाम होता है। हमें विश्वस्त रीति से मालूम हुआ है कि नये महाराज ने, जो आजकल लखनऊ में विराजमान हैं, अपने वकीलों की सम्मति के अनुसार मृतक महारानी के ऋण-संबन्धी हिसाबों के चुकाने से इनकार कर दिया है। हमें भय है कि इस निश्चय से महाजनी टोले में बड़ी हलचल पैदा होगी और

लखनऊ के कितने ही धन-सम्पत्ति के स्वामियों को यह शिक्षा मिल जायगी कि ब्याज का लोभ कितना अनिष्टकारी होता है।'

लाला साईंदास ने अखबार मेज़ पर रख दिया और आकाश की ओर देखा, जो निराशों का अन्तिम आश्रय है। अन्य मित्रों ने भी यह समाचार पढ़ा। इस प्रश्न पर वाद-विवाद होने लगा। साईंदास पर चारों ओर से बौछार पड़ने लगी। सारा दोष उन्हीं के सिर मढ़ा गया और उनकी चिरकाल की कार्यकुशलता और परिणाम-दर्शिता मिट्टी में मिल गई। बैंक इतना बड़ा घाटा सहने में असमर्थ था। अब यह विचार उपस्थित हुआ कि कैसे उसके प्राणों की रक्षा की जाय!

(५)

शहर में यह ख़बर फैलते ही लोग अपने रुपये वापस लेने के लिए आतुर हो गये। सुबह से शाम तक लेनदारों का ताँता लगा रहता था। जिन लोगों का धन चालू हिसाब में जमा था, उन्होंने तुरन्त निकाल लिया, कोई उज्र न सुना। यह उसी पत्र के लेख का फल था कि नेशनल-बैंक की साख उठ गई। धीरज से काम लेते, तो बैंक सँभल जाता; परन्तु आँधी और तूफ़ान में कौन नौका स्थिर रह सकती है! अन्त में ख़ज़ांची ने टाट उलट दिया। बैंक की नसों से इतनी रक्त-धाराएँ निकलीं कि वह प्राण-रहित हो गया।

तीन दिन बीत चुके थे। बैंक के घर के सामने सहस्रों आदमी एकत्र थे। बैंक के द्वार पर सशस्त्र सिपाहियों का पहरा था। नाना प्रकार की अफ़वाहें उड़ रही थीं। कभी ख़बर उड़ती, लाला साईंदास ने विष-पान कर लिया। कोई उनके पकड़े जाने की सूचना लाता था। कोई कहता था—डाइरेक्टर हवालात के भीतर हो गये।

एकाएक सड़क पर से एक मोटर निकली, और बैंक के सामने आकर रुक गई। किसी ने कहा—बरहल के महाराज की मोटर है। इतना सुनते ही सैकड़ों मनुष्य मोटर की ओर घबराये हुए दौड़े और उन लोगों ने मोटर को घेर लिया।

कुँवर जगदीशसिंह महारानी की मृत्यु के बाद वकीलों से सलाह लेने लखनऊ आये थे। बहुत कुछ सामान भी ख़रीदना था। वे इच्छाएँ जो चिरकाल से ऐसे सुअवसर की प्रतीक्षा में थीं, बँधे पानी की भाँति राह पाकर उबली पड़ती थीं। यह मोटर आज ही ली गई थी। नगर में एक कोठी लेने की बातचीत हो रही थी। बहुमूल्य विलास-वस्तुओं से लदी एक गाड़ी बरहल के लिए चल चुकी थी। यहाँ भीड़

देखो, तो सोचा, कोई नवीन नाटक होनेवाला है, मोटर रोक दो। इतने में सैकड़ों की भीड़ लग गई।

कुँवर साहब ने पूछा—यहाँ आप लोग क्यों जमा हैं? कोई तमाशा होने-वाला है क्या?

एक महाशय, जो देखने में कोई बिगड़े रईस मालूम होते थे, बोले—जी हाँ, बड़ा मजेदार तमाशा है।

कुँवर—किसका तमाशा है?

वह—तक़दीर का।

कुँवर महाशय को यह उत्तर पाकर आश्चर्य तो हुआ, परन्तु सुनते आये थे कि लखनऊवाले बात-बात में बात निकाला करते हैं; अतः उसी ढंग से उत्तर देना आवश्यक हुआ। बोले—तक़दीर का खेल देखने के लिए यहाँ आना तो आवश्यक नहीं।

लखनवी महाशय ने कहा—आपका कहना सच है; लेकिन दूसरी जगह यह मज़ा कहाँ? यहाँ सुबह से शाम तक के बीच में भाग्य ने कितनों को धनी से निर्धन और निर्धन से भिखारी बना दिया। सवेरे जो लोग महल में बैठे थे, उन्हें इस समय वृक्ष की छाया भी नसीब नहीं। जिनके द्वार पर सदावर्त खुले थे, उन्हें इस समय रोटियों के लाले पड़े हैं। अभी एक सप्ताह पहले जो लोग काल-गति, भाग्य के खेल और समय के फेर को कवियों की उपमा समझते थे, इस समय उनकी आह और करुण क्रंदन वियोगियों को भी लज्जित करता है। ऐसे तमाशे और कहाँ देखने में आवेंगे?

कुँवर—जनाब, आपने तो पहेली को और गूढ़ कर दिया। देहाती हूँ, मुझसे साधारण तौर से बात कीजिए।

इस पर एक सज्जन ने कहा—साहब, यह नेशनल बैंक है। इसका दिवाला निकल गया है। आदाब-अर्ज़, मुझे पहचाना?

कुँवर साहब ने उसकी ओर देखा, तो मोटर से कूद पड़े और उससे हाथ मिलाते हुए बोले—अरे मिस्टर नसीम! तुम यहाँ कहाँ! भाई, तुमसे मिलकर बड़ा आनन्द हुआ।

मिस्टर नसीम कुँवर साहब के साथ देहरादून-कालेज में पढ़ते थे। दोनों

साथ-साथ देहरादून की पहाड़ियों पर सैर करते थे ; परन्तु जब से कुँवर महाशय ने घर के झंझटों से विवश होकर कालेज छोड़ा, तब से दोनों मित्रों से भेंट न हुई थी। नसीम भी उनके आने के कुछ समय पीछे अपने घर लखनऊ चले आये थे।

नसीम ने उत्तर दिया—शुक्र है, आपने पहचाना तो। कहिए, अब तो पौ बारह हैं। कुछ दोस्तों की भी सुध है ?

कुँवर—सच कहता हूँ, तुम्हारी याद हमेशा आया करती थी। कहो, आराम से तो हो ? मैं रायल होटल में टिका हूँ, आज आओ, तो इतमीनान से बातचीत हो।

नसीम—जनाब, इतमीनान तो नेशनल-बैंक के साथ चला गया। अब तो रोज़ी की फ़िक्र सवार है। जो कुछ जमा-पूँजी थी, सब आपकी भेंट हुई। इस दिवाले ने फ़क़ीर बना दिया। अब आपके दरवाज़े पर आकर धरना दूँगा।

कुँवर—तुम्हारा घर है। बेखटके आओ। मेरे साथ ही क्यों न चलो। क्या बतलाऊँ, मुझे कुछ भी ध्यान न था कि मेरे इनकार करने का यह फल होगा। जान पड़ता है, बैंक ने बहुतेरों को तबाह कर दिया।

नसीम—घर-घर मातम छाया हुआ है। मेरे पास तो इन कपड़ों के सिवा और कुछ नहीं रहा।

इतने में एक तिलकधारी पण्डितजी आ गये और बोले—साहब, आपके शरीर पर वस्त्र तो है ! यहाँ तो धरती-आकाश कहीं ठिकाना नहीं है। मैं राघोजी पाठशाला का अध्यापक हूँ। पाठशाला का सब धन इसी बैंक में जमा था। पचास विद्यार्थी इसी के आसरे संस्कृत पढ़ते और भोजन पाते थे। कल से पाठशाला बन्द हो जायगी। दूर-दूर के विद्यार्थी हैं। वह अपने घर किस तरह पहुँचेंगे, ईश्वर ही जाने।

एक महाशय, जिनके सिर पर पंजाबी ढंग की पगड़ी थी, गाढ़े का कोट और चमरौधा जूता पहने हुए थे, आगे बढ़ आये और नेतृत्व के भाव से बोले—महाशय इस बैंक के फेलियर ने कितने ही इंस्टीट्यूशनों को समाप्त कर दिया। लाला दीनानाथ का अनाथालय अब एक दिन भी नहीं चल सकता। उसके एक लाख रुपये डूब गये। अभी पन्द्रह दिन हुए, मैं डेपुटेशन से लौटा, तो पन्द्रह हज़ार रुपये अनाथालय-कोष में जमा किये थे ; मगर अब कहीं कौड़ी का ठिकाना नहीं।

एक बूढ़े ने कहा—साहब, मेरी तो जिन्दगी-भर की कमाई मिट्टी में मिल गई। अब कफ़न का भी भरोसा नहीं।

धीरे-धीरे और लोग भी एकत्र हो गये, और साधारण बातचीत होने लगी। प्रत्येक मनुष्य अपने पासवाले को अपनी दुःखकथा सुनाने लगा। कुँवर साहब आधे घंटे तक नसीम के साथ खड़े ये विपत्-कथाएँ सुनते रहे। ज्योंही मोटर पर बैठे और होटल की ओर चलने की आज्ञा दी, त्योंही उनकी दृष्टि एक मनुष्य पर पड़ी, जो पृथ्वी पर सिर झुकाये बैठा था। यह एक अहीर था, लड़कपन में कुँवर साहब के साथ खेला था। उस समय उनमें ऊँच-नीच का विचार न था, साथ कबड्डी खेले, साथ पेड़ों पर चढ़े और चिड़ियों के बच्चे चुराये थे। जब कुँवर जी देहरादून पढ़ने गये, तब यह अहीर का लड़का शिवदास अपने बाप के साथ लखनऊ चला आया। उसने यहाँ एक दूध की दूकान खोल ली थी। कुँवर साहब ने उसे पहचाना और उच्च स्वर से पुकारा—अरे शिवदास, इधर देखो।

शिवदास ने बोली सुनी; परन्तु सिर ऊपर न उठाया। वह अपने स्थान पर बैठा ही कुँवर साहब को देख रहा था। बचपन के वे दिन याद आ रहे थे, जब वह जगदीश के साथ गुल्ली-डण्डा खेलता था, जब दोनों बुड्ढे गफूर मियाँ का मुँह चिढ़ाकर घर में छिप जाते थे, जब वह इशारों से जगदीश को गुरुजी के पास से बुला लेता था, और दोनों रामलीला देखने चले जाते थे। उसे विश्वास था कि कुँवर जी मुझे भूल गये होंगे, वे लड़पन की बातें अब कहाँ? मैं और कहाँ यह! लेकिन कुँवर साहब ने उसका नाम लेकर बुलाया, तो उनसे प्रसन्न होकर मिलने के बदले उसने और भी सिर नीचा कर लिया और वहाँ से टल जाना चाहा। कुँवर साहब की सहृदयता में अब वह साम्य-भाव न था; मगर कुँवर साहब उसे हटते देखकर मोटर से उतरे, और उसका हाथ पकड़कर बोले—अरे शिवदास, क्या मुझे भूल गये?

अब शिवदास अपने मनोवेग को रोक न सका। उसके नेत्र डबडबा आये। कुँवर के गले से लिपट गया और बोला—भूला तो नहीं; पर आपके सामने आते लज्जा आती है।

कुँवर—यहाँ दूध की दूकान करते हो क्या? मुझे मालूम ही न था, नहीं तो अठवारों से पानी पीते-पीते जुकाम क्यों होता! आओ, इस मोटर पर बैठ जाओ।

मेरे साथ होटल तक चलो। तुमसे बातें करने को जी चाहता है। तुम्हें बरहल ले चलूँगा, और एक बार फिर गुल्ली-डण्डे का खेल खेलेंगे।

शिवदास—ऐसा न कीजिए, नहीं तो देखनेवाले हँसेंगे। मैं होटल में आ जाऊँगा। वही हजरतगंजवाले होटल में ठहरे हैं न?

कुँवर—अवश्य आओगे न?

शिवदास—आप बुलावेंगे, और मैं न आऊँगा?

कुँवर—यहाँ कैसे बैठे हो? दूकान तो चल रही है न?

शिवदास—आज सवेरे तक तो चलती थी। आगे का हाल नहीं मालूम।

कुँवर—तुम्हारे रुपये भी बैंक में जमा थे क्या?

शिवदास—जब आऊँगा तो बताऊँगा।

कुँवर साहब मोटर पर आ बैठे और ड्राइवर से बोले—होटल की ओर चलो।

ड्राइवर—हुजूर ने ह्वाइटवे कम्पनी की दूकान पर चलने की आज्ञा जो दी थी।

कुँवर—अब उधर न जाऊँगा।

ड्राइवर—जेकब साहब बारिस्टर के यहाँ भी न चलूँ?

कुँवर—(झुँझलाकर) नहीं, कहीं मत चलो। मुझे सीधे होटल पहुँचाओ।

निराशा और विरक्ति के इन दृश्यों ने जगदीशसिंह के चित्त में यह प्रश्न उपस्थित कर दिया था कि अब मेरा क्या कर्तव्य है?

(६)

आज से सात वर्ष पूर्व, जब बरहल के महाराज ठीक युवावस्था में घोड़े से गिरकर मर गये थे, और विरासत का प्रश्न उठा, तो महाराजा के कोई संतान न होने के कारण, वंश-क्रम मिलाने से उनके सगे चचेरे भाई ठाकुर रामसिंह को विरासत का हक पहुँचता था। उन्होंने दावा किया; लेकिन न्यायालयों ने रानी को ही हक़दार ठहराया। ठाकुर साहब ने अपीलें कीं, प्रिवी कौंसिल तक गये; परन्तु सफलता न हुई। मुक़दमे बाजी में लाखों रुपये नष्ट हुए, अपने पास की मिलकियत भी हाथ से जाती रही; किन्तु हारकर भी वह चैन से न बैठे। सदैव विधवा रानी को छेड़ते रहे। कभी असामियों को भड़काते, कभी असामियों से रानी की बुराई कराते, कभी उन्हें जाली मुक़दमों में फँसाने का उपाय करते; परन्तु रानी भी बड़े जीवट की स्त्री थीं। वह भी ठाकुर साहब के प्रत्येक आघात का मुँहतोड़ उत्तर देतीं। हाँ, इस खींचतान में उन्हें बड़े-

बड़ी रकमें अवश्य खर्च करनी पड़ती थीं। असामियों से रुपये न वसूल होते; इसलिए उन्हें बार-बार ऋण लेना पड़ता था, परन्तु कानून के अनुसार उन्हें ऋण लेने का अधिकार न था। इसलिए उन्हें या तो इस व्यवस्था को छिपाना पड़ता था, या सूद की गहरी दर स्वीकार करनी पड़ती थी।

कुँवर जगदीशसिंह का लड़कपन तो लाड़-प्यार से बीता था, परन्तु जब ठाकुर रामसिंह मुकदमेबाजी से बहुत तंग आ गये और यह सन्देह होने लगा कि बड़ी रानी की चालों से कुँवर साहब का जीवन संकट में न पड़ जाय, तो उन्होंने विवश हो कुँवर साहब को देहरादून भेज दिया। कुँवर साहब वहाँ दो वर्ष तक तो आनन्द से रहे; किन्तु ज्यों ही कालेज की प्रथम श्रेणी में पहुँचे कि पिता परलोकवासी हो गये। कुँवर साहब को पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बरहल चले आये। सिर पर कुटुम्ब पालन और रानी से पुरानी शत्रुता के निभाने का बोझ आ पड़ा। उस समय से महारानी के मृत्यु-काल तक उनकी दशा बहुत गिरी रही। ऋण या स्त्रियों के गहनों के सिवा और कोई आधार न था। उस पर कुल मर्यादा की रक्षा की चिन्ता भी थी। ये तीन वर्ष उनके लिए कठिन परीक्षा के समय थे। आये-दिन साहूकारों से काम पड़ता था। उनके निर्दय बाणों से कलेजा छिद गया था। हाकिमों के कठोर व्यवहार और अत्याचार भी सहने पड़ते, परन्तु सबसे हृदय-विदारक अपने आत्मीयजनों का बर्ताव था, जो सामने घात न करके पचली चोटें करते थे, मित्रता और ऐक्य की आड़ में कपट का हाथ चलाते थे। इन कठोर यातनाओं ने कुँवर साहब को अधिकार, स्वेच्छाचार और धन-सम्पत्ति का जानी-दुश्मन बना दिया था। वह बड़े भावुक पुरुष थे। सम्बन्धियों की अकृपा और देश-बन्धुओं की दुर्नीति उनके हृदय पर काला चिह्न बनाती जाती थी; साहित्य-प्रेम ने उन्हें मानव-प्रकृति का तत्त्वान्वेषी बना दिया था और जहाँ यह ज्ञान उन्हें प्रतिदिन सभ्यता से दूर किये जाता था, वहाँ उनके चित्त में जन-सत्ता और साम्यवाद के विचार पुष्ट करता जाता था। उन पर प्रकट हो गया था कि यदि सद्व्यवहार जीवित है, तो वह झोपड़ों और गरीबों में ही। उस कठिन समय में, जब चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था, उन्हें कभी-कभी सच्ची सहानुभूति का प्रकाश यहीं दृष्टिगोचर हो जाता था। धन-सम्पत्ति को वह श्रेष्ठ प्रसाद नहीं, ईश्वर का प्रकोप समझते थे, जो मनुष्य के हृदय से दया और प्रेम के भावों को मिटा देता है, यह वह मेघ है, जो चित्त के प्रकाशित तारों पर छा जाता है।

परन्तु महारानी की मृत्यु के बाद ज्यों ही धन-सम्पत्ति ने उन पर वार किया, बस दार्शनिक तर्कों की यह ढाल चूर-चूर हो गई। आत्मनिदर्शन की शक्ति नष्ट हो गई। वे मित्र बन गये, जो शत्रु-सरीखे थे और जो सच्चे हितैषी थे, वे विस्मृत हो गये। साम्यवाद के मनोगत विचारों में घोर परिवर्तन आरम्भ हो गया। हृदय में असहिष्णुता का उद्भव हुआ। त्याग ने भोग की ओर सिर झुका दिया, मर्यादा की बेड़ी गले में पड़ी। वे अधिकारी जिन्हें देखकर उनके तेवर बदल जाते थे, अब उनके सलाहकार बन गये। दीनता और दरिद्रता को, जिनसे उन्हें सच्ची सहानुभूति थी, देखकर अब वह आँखें मूँद लेते थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कुँवर साहब अब भी साम्यवाद के भक्त थे, किन्तु उन विचारों के प्रकट करने में वह पहले की-सी स्वतन्त्रता न थी। विचार अब व्यवहार से डरता था। उन्हें कथन को कार्य-रूप में परिणत करने का अवसर प्राप्त था; पर अब कार्य-क्षेत्र कठिनाइयों से घिरा हुआ जान पड़ता था। बेगार के वह जानी दुश्मन थे; परन्तु अब बेगार को बन्द करना दुष्कर प्रतीत होता था। स्वच्छता और स्वास्थ्य-रक्षा के वह भक्त थे; किन्तु अब धन-व्यय का ध्यान न करके भी उन्हें ग्राम-वासियों की ही ओर से विरोध की शंका होती थी। असामियों से पोत उगाहने में कठोर बर्ताव को वह पाप समझते थे; मगर अब कठोरता के बिना काम चलता न जान पड़ता था। सारांश यह कि कितने ही सिद्धान्त, जिन पर पहले उनकी श्रद्धा थी, अब असङ्गत प्रतीत होते थे।

परन्तु आज जो दुःखजनक दृश्य बैंक के हाते में नज़र आये, उन्होंने उनके दया-भाव को जाग्रत कर दिया। उस मनुष्य की-सी दशा हो गई, जो नौका में बैठा सुरम्य तट की शोभा का आनन्द उठाता हुआ किसी श्मशान के सामने आ जाय, चिता पर लाशें जलती देखे, शोक-सन्तप्तों के करुण-क्रन्दन को सुने और नाव से उतरकर उनके दुःख में सम्मिलित हो जाय।

रात के दस बज गये थे। कुँवर साहब पलंग पर लेटे थे। बैंक के हाते का दृश्य आँखों के सामने नाच रहा था। वही विलाप-ध्वनि कानों में आ रही थी। चित्त में प्रश्न हो रहा था, क्या इस विडम्बना का कारण मैं ही हूँ? मैंने तो वही किया जिसका मुझे कानूनन् अधिकार था। यह बैंक के संचालकों की भूल है, जो उन्होंने बिना पूरी ज़मानत के इतनी बड़ी रक़म क़र्ज़ दे दी। लेनदारों को उन्हीं की गरदन

जानी चाहिए। मैं कोई खुदाई फ़ौजदार नहीं हूँ, कि दूसरों की नादानी का फल भोगूँ। फिर विचार पलटा, मैं नाहक इस होटल में ठहरा। चालीस रुपये प्रतिदिन देने पड़ेंगे। कोई चार सौ रुपये के मत्थे जायगी। इतना सामान भी व्यर्थ ही लिया। क्या आवश्यकता थी? मखमली गद्दे की कुर्सियों या शीशे की सजावट से मेरा गौरव नहीं बढ़ सकता। कोई साधारण मकान पाँच रुपये किराये पर ले लेता, तो क्या काम न चलता? मैं और साथ के सब आदमी आराम से रहते। यही न होता कि लोग निन्दा करते। इसकी क्या चिन्ता। जिन लोगों के मत्थे यह ठाट कर रहा हूँ, वे ग़रीब तो रोटियों को तरसते हैं। ये ही दस-बारह हजार रुपये लगाकर कुएँ बनवा देता, तो सहस्रों दीनों का भला होता। अब फिर लोगों के चकमे में न आऊँगा। यह मोटरकार व्यर्थ है। मेरा समय इतना मँहगा नहीं है कि घण्टे-आध घण्टे की किफायत के लिए दो सौ रुपये महीने का खर्च बढ़ा लूँ। फ़ाक़ा करनेवाले असामियों के सामने मोटर दौड़ाना उनकी छातियों पर मूँग दलना है। माना कि वे रोब में आ जायँगे, जिधर से निकल जाऊँगा, सैकड़ों स्त्रियाँ और बच्चे देखने के लिए खड़े हो जायँगे; मगर केवल इतने ही दिखावे के लिए इतना खर्च बढ़ाना मूर्खता है। यदि दूसरे रईस ऐसा करते हैं, तो करें, मैं उनकी बराबरी क्यों करूँ? अब तक दो हज़ार रुपये सालाने में मेरा निर्वाह हो जाता था। अब दो के बदले चार हज़ार बहुत हैं। फिर मुझे दूसरों की कमाई इस प्रकार उड़ाने का अधिकार ही क्या है? मैं कोई उद्योग-धन्धा, कोई कारोबार नहीं करता, जिसका यह नफ़ा हो। यदि मेरे पुरुषों ने हठधर्मी और ज़बरदस्ती से इलाका अपने हाथों में रख लिया, तो मुझे उनके लूट के धन में शरीक होने का क्या अधिकार है? जो लोग परिश्रम करते हैं, उन्हें अपने परिश्रम का पूरा फल मिलना चाहिए। राज्य उन्हें केवल दूसरों के कठोर हाथों से बचाता है, उसे इस सेवा का उचित मुआवज़ा मिलना चाहिए, बस, मैं तो राज्य की ओर से यह मुआवज़ा वसूल करने के लिए नियत हूँ। इसके सिवा इन ग़रीबों की कमाई में मेरा और कोई भाग नहीं। ये बेचारे दीन हैं, मूर्ख हैं, बेज़बान हैं, इस समय हम इन्हें चाहे जितना सता लें। इन्हें अपने स्वत्व का ज्ञान नहीं। ये अपने महत्त्व को नहीं समझते, पर एक समय ऐसा अवश्य आवेगा, जब इनके मुँह में भी ज़बान होगी, इन्हें भी अपने अधिकारों का ज्ञान होगा। तब हमारी दशा बुरी होगी। ये भोग-विलास मुझे अपने असामियों से दूर किये देते

हैं। मेरी भलाई इसी में है कि इन्हीं में रहूँ, इन्हीं की भाँति जीवन-निर्वाह और इनकी सहायता करूँ? कोई छोटी-मोटी रकम होती, तो कहता, लाओ, जिस सिर पर बहुत भार हैं, उसी तरह यह भी सही। मूल के अलावा कई हजार रुपये सूद के अलग हुए। फिर महाजनों के भी तो तीन लाख रुपये हैं। रियासत की आमदनी डेढ़-दो लाख रुपये सालाना है, अधिक नहीं। मैं इतना बड़ा साहस करूँ भी, तो किस बिरते पर। हाँ, यदि बैरागी हो जाऊँ तो सम्भव है, मेरे जीवन में—यदि कहीं अचानक मृत्यु न हो जाय तो—यह झगड़ा पाक हो जाय। इस अग्नि में कूदना अपने सम्पूर्ण जीवन, अपनी उमंगों और अपनी आशाओं को भस्म करना है। आह! इन दिनों की प्रतीक्षा में मैंने क्या-क्या कष्ट नहीं भोगे। पिताजी ने इसी चिन्ता में प्राण-त्याग किया। यह शुभ मुहूर्त्त हमारी अँधेरी रात के लिए दूर का दीपक था। हम इसी के आसरे जीवित थे। सोते-जागते सदैव इसी की चर्चा रहती थी। इससे चित्त को कितना सन्तोष और कितना अभिमान था। भूखे रहने के दिन भी हमारे तेवर मैले न होते थे। जब इतने धैर्य और सन्तोष के बाद अच्छे दिन आये, तो उससे कैसे विमुख हुआ जाय? और फिर अपनी ही चिन्ता तो नहीं, रियासत की उन्नति की कितनी ही स्कीमें सोच चुका हूँ। क्या अपनी इच्छाओं के साथ उन विचारों को भी त्याग दूँ? इस अभागी रानी ने मुझे बुरी तरह फँसाया। जब तक जीती रही, कभी चैन से न बैठने दिया। मरी तो मेरे सिर पर यह बला डाल दी। परंतु मैं दरिद्रता से इतना डरता क्यों हूँ? दरिद्रता कोई पाप नहीं है। यदि मेरा त्याग हजारों घरानों को कष्ट और दुरवस्था से बचाये, तो मुझे उससे मुँह न मोड़ना चाहिए। केवल सुख से जीवन व्यतीत करना ही हमारा ध्येय नहीं है। हमारी मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति सुख-भोग ही से तो नहीं हुआ करती। राजमन्दिरों में रहनेवाले और विलास में रत राणा प्रताप को कौन जानता है? यह उनका आत्म-समर्पण और कठिन व्रतपालन ही है, जिसने उन्हें हमारी जाति का सूर्य बना दिया है। श्रीरामचन्द्र ने यदि अपना जीवन सुख-भोग में बिताया होता, तो आज हम उनका नाम भी न जानते। उनके आत्म-बलिदान ने ही उन्हें अमर बना दिया। हमारी प्रतिष्ठा धन और विलास पर अवलम्बित नहीं है। मैं मोटर पर सवार हुआ तो क्या, और टट्टू पर चढ़ा तो क्या, होटल में ठहरा तो क्या, और किसी मामूली घर में ठहरा तो क्या, बहुत होगा, ताल्लुकेदार लोग मेरी हँसी उड़ावेंगे। इसकी

रवा नहीं। मैं तो हृदय से चाहता हूँ कि उन लोगों से अलग-अलग रहूँ। यदि इतनी निन्दा से संकड़ों परिवारों का भला हो जाय, तो मैं मनुष्य नहीं, जो प्रसन्नता से उसे सहन करूँ। यदि अपने घोड़े और फिटन, सैर और शिकार, नौकर-चाकर और स्वार्थ-साधक हित मित्रों से रहित होकर मैं सहस्रों अमीर गरीब कुटुम्बों का, विधवाओं और अनाथों का भला कर सकूँ, तो मुझे इसमें कदापि विलम्ब न करना चाहिए। सहस्रों परिवारों के भाग्य इस समय मेरी मुट्ठी में हैं। मेरा सुख भोग उनके लिए विष और मेरा आत्म-संयम उनके लिए अमृत है। मैं अमृत बन सकता हूँ तो विष क्यों बनूँ? और फिर इसे आत्म-त्याग समझना भी मेरी भूल है। यह एक संयोग है कि मैं आज इस जायदाद का अधिकारी हूँ। मैंने उसे कमाया नहीं। उसके लिए रक्त नहीं बहाया, पसीना नहीं बहाया। यदि वह जायदाद मुझे न मिली होती, तो मैं सहस्रों दीन-भाइयों की भाँति आज जीविकोपार्जन में लगा रहता। मैं क्यों न भूल जाऊँ कि मैं इस राज्य का स्वामी हूँ। ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य की परख होती है! मैंने वर्षों पुस्तकावलोकन किया, वर्षों परोपकार-सिद्धान्तों का अनुयायी रहा। यदि इस समय उन सिद्धान्तों को भूल जाऊँ, स्वार्थ को मनुष्यता और सदाचार से बढ़ने दूँ, तो वस्तुतः यह मेरी अत्यन्त कायरता और स्वार्थपरता होगी। भला स्वार्थ-साधन की शिक्षा के लिए गीता, मिल, एमर्सन और अरस्तू का शिष्य बनने की क्या आवश्यकता थी? यह पाठ तो मुझे अपने दूसरे भाइयों से यों ही मिल जाता। प्रचलित प्रथा से बढ़कर और कौन गुरु था? साधारण लोगों की भाँति क्या मैं भी स्वार्थ के सामने सिर झुका दूँ? तो फिर विशेषता क्या रही? नहीं, मैं कानशंस (विवेक-बुद्धि) का खून न करूँगा। जहाँ पुण्य कर सकता हूँ, पाप न करूँगा। परमात्मन्, तुम मेरी सहायता करो, तुमने मुझे राजपूत-वंश में जन्म दिया है। मेरे कर्म से इस महान् जाति को लज्जित न करो। नहीं, कदापि नहीं। यह गर्दन स्वार्थ के सम्मुख न झुकेगी। मैं राम, भीष्म और प्रताप का वंशज हूँ; शरीर-सेवक न बनूँगा।

कुँवर जगदीशसिंह को इस समय ऐसा ज्ञात हुआ, मानों वह किसी ऊँचे मीनार पर चढ़ गये हैं। चित्त अभिमान से पूरित हो गया। आँखें प्रकाशमान हो गईं। परन्तु एक ही क्षण में इस उमंग का उतार होने लगा, ऊँचे मीनार से नीचे की ओर आँखें गईं। सारा शरीर काँप उठा। इस मनुष्य की-सी

दशा हो गई, जो किसी नदी के तट पर बैठा हुआ उसमें कूदने का विचार कर रहा हो।

उन्होंने सोचा, क्या मेरे घर के लोग मुझसे सहमत होंगे? यदि मेरे कारण वे सहमत भी हो जायं, तो क्या मुझे अधिकार है, कि अपने साथ उनकी इच्छाओं का भी बलिदान करूँ? और तो और, माताजी कभी न मानेंगी, और कदाचित् भाई लोग भी अस्वीकार करें। रियासत की हैसियत को देखते हुए वे कम से-कम दस हजार सालाना के हिस्सेदार हैं और मैं उनके भाग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मैं केवल अपना मालिक हूँ; परन्तु मैं भी तो अकेला नहीं हूं। सावित्री स्वयं चाहे मेरे साथ आग में कूदने को तैयार हो; किन्तु अपने प्यारे पुत्र को इस आँच के समीप कदापि न आने देगी।

कुँवर महाशय और अधिक न सोच सके। वह एक विकल दशा में पलँग पर से उठ बैठे और कमरे में टहलने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने जँगले के बाहर की ओर झाँका और किवाड़ खोलकर बाहर चले आये। चारों ओर अँधेरा था। उनकी चिन्ताओं की भाँति सामने अपार और भयंकर गोमती नदी बह रही थी। वह धीरे-धीरे नदी के तट पर चले गये और देर तक वहाँ टहलते रहे। आकुल हृदय को चंचल तरंगों से प्रेम होता है। शायद इसलिए कि लहरें व्याकुल हैं। उन्होंने अपने चंचल चित्त को फिर एकाग्र किया। यदि रियासत की आमदनी से ये सब वृत्तियाँ दी जायँगी, तो ऋण का सूद निकालना भी कठिन होगा। मूल का तो कहना ही क्या! क्या आय में वृद्धि नहीं हो सकती? अभी अस्तबल में बीस घोड़े हैं। मेरे लिए एक काफी है। नौकरों की संख्या सौ से कम न होगी। मेरे लिए दो भी अधिक हैं। यह अनुचित है कि अपने ही भाइयों से नीच सेवाएँ कराई जायँ। उन मनुष्यों को मैं अपने सीर की जमीन दे दूँगा। सुख से खेती करेंगे और मुझे आशीर्वाद देंगे। बगीचों के फल अब तक डालियों की भेंट हो जाते थे। अब उन्हें बेचूँगा, और सबसे बड़ी आमदनी तो बयाई की है। केवल महेशगंज के बाजार से दस हजार रुपये आते हैं। यह सब आमदनी महन्तजी उड़ा जाते हैं। उनके लिए एक हजार रुपये साल होना चाहिए। अबकी इस बाजार का ठेका दूँगा। आठ हजार से कम न मिलेंगे। इन मदों से पचीस हजार रुपये की वार्षिक आय होगी। सावित्री और लल्लाई (लड़के) के लिए एक हजार रुपये काफी हैं। मैं सावित्री से स्पष्ट कह दूँगा कि मैं

तो एक हजार रुपया मासिक लो और मेरे साथ रहो या रियासत की आधी आमदनी ले लो, और मुझे छोड़ दो। रानी बनने की इच्छा हो, तो खुशी से बनो ; परन्तु मैं राजा न बनूँगा।

अचानक कुँवर साहब के कानों में आवाज़ आई—'राम नाम सत्य है।' उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। कई मनुष्य एक लाश लिये आते थे। उन लोगों ने नदी किनारे चिता बनाई और उसमें आग लगा दी। दो स्त्रियाँ चिग्घारकर रो रही थीं। इस विलाप का कुँवर साहब के चित्त पर कुछ प्रभाव न पड़ा। वह चित्त में लज्जित हो रहे थे कि मैं कितना पाषाण-हृदय हूँ। एक दीन मनुष्य की लाश जल रही है, स्त्रियाँ रो रही हैं और मेरा हृदय तनिक भी नहीं पसीजता। पत्थर की मूर्ति की भाँति खड़ा हूँ। एकबारगी एक स्त्री ने रोते हुए कहा—'हाय मेरे राजा! तुम्हें विष कैसे मीठा लगा?' यह हृदय-विदारक विलाप सुनते ही कुँवर साहब के चित्त में एक बाण-सा लग गया। करुणा सजग हो गई और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। कदाचित् इस दुखिया ने विष-पान करके प्राण दिये हैं। हाय! उसे विष कैसे मीठा लगा! इसमें कितनी करुणा है, कितना दुःख, कितना आश्चर्य! विष तो कड़वा पदार्थ है। वह क्योंकर मीठा हो गया! कटु विष के बदले जिसने अपने मधुर प्राण दे दिये उस पर कोई बड़ी मुसीबत पड़ी होगी! ऐसी ही दशा में विष मधुर हो सकता है। कुँवर साहब तड़प गये। कारुणिक शब्द बार-बार उनके हृदय में गूँजते थे। अब उनसे वहाँ न खड़ा रहा गया। वह उन आदमियों के पास आये, एक मनुष्य से पूछा—क्या बहुत दिनों से बीमार थे? इस मनुष्य ने कुँवर साहब की ओर आँसू-भरे नेत्रों से देखकर कहा—नहीं साहब, कहाँ की बीमारी! अभी आज सन्ध्या तक भली-भाँति बातें कर रहे थे। मालूम नहीं, सन्ध्या को क्या खा लिया कि खून की कै होने लगी। जब तक वैद्यराज के यहाँ जायँ, तब तक आँखें उलट गईं। नाड़ी छूट गई। वैद्यराज ने आकर देखा, तो कहा—अब क्या हो सकता है? अभी कुल बाईस-तेईस वर्ष की अवस्था थी। ऐसा पट्ठा सारे लखनऊ में नहीं था।

कुँवर—कुछ मालूम हुआ, विष क्यों खाया?

उस मनुष्य ने सन्देह-दृष्टि से देखकर कहा—महाशय, और तो कोई बात नहीं हुई। जब से यह बड़ा बैंक टूटा है, बहुत उदास रहते थे। कोई हजार रुपये बैंक में जमा किये थे। घी-दूध-मलाई की बड़ी दूकान थी। बिरादरी में मान था।

वह सारी पूँजी डूब गई। हम लोग रोकते रहे कि बैंक में रुपये मत जमा करो; किन्तु होनहार यह थी। किसी की नहीं सुनी। आज सवेरे स्त्री से गहने माँगते थे कि गिरवीं रखकर अहीरों को दूध के दाम दे दें। उससे बातों-बातों में झगड़ा हो गया। बस न जाने क्या खा लिया।

कुँवर साहब का हृदय काँप उठा। तुरन्त ध्यान आया शिवदास तो नहीं है। पूछा—इनका नाम शिवदास तो नहीं था? उस मनुष्य ने विस्मय से देखकर कहा—हाँ, यही नाम था। क्या आप से जान-पहचान थी?

कुँवर—हाँ, हम और यह बहुत दिनों तक बरहल में साथ-साथ खेले थे। आज शाम को वह हमसे बैंक में मिले थे। यदि उन्होंने मुझसे तनिक भी चर्चा की होती तो मैं यथाशक्ति उनकी सहायता करता। शोक!

उस मनुष्य ने अब ध्यान-पूर्वक कुँवर साहब को देखा, और जाकर स्त्रियों से कहा—चुप हो जाओ, बरहल के महाराज आये हैं! इतना सुनते ही शिवदास की माता ज़ोर-ज़ोर से सिर पटकती और रोती हुई आकर कुँवर के पैरों पर गिर पड़ी। उसके मुख से केवल ये शब्द निकले—'बेटा, बचपन में जिसे तुम भैया कहा करते थे × × ×' और गला रुँध गया।

कुँवर महाशय की आँखों से भी अश्रुपात हो रहा था। शिवदास की मूर्ति उनके सामने खड़ी यह कहती देख पड़ती थी कि तुमने मित्र होकर मेरे प्राण लिये।

(७)

भोर हो गया; परन्तु कुँवर साहब को नींद न आई। जब से वह गोमती-तीर से लौटे थे, उनके चित्त पर एक वैराग्य-सा छाया हुआ था। वह कारुणिक दृश्य उनके स्वार्थ के तर्कों को छिन्न-भिन्न किये देता था। सावित्री के विरोध, लल्ला के निराशा-युत हठ और माता के कुछ शब्दों का अब उन्हें लेश-मात्र भी भय न था। सावित्री कुढ़ेगी, कुढ़े। लल्ला को भी संग्राम के क्षेत्र में कूदना पड़ेगा, कोई चिन्ता नहीं! माता प्राण देने पर तत्पर होंगी, क्या हर्ज है। मैं अपनी स्त्री-पुत्र तथा हित मित्रादि के लिए सहस्रों परिवारों की हत्या न करूँगा। हाय! शिवदास को जीवित रखने के लिए मैं ऐसी कितनी रियासतें छोड़ सकता हूं। सावित्री को भूखों रहना पड़े, लल्ला को मजदूरी करनी पड़े, मुझे द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़े, तब भी दूसरों का गला न दबाऊँगा। अब विलम्ब का अवसर नहीं। न जाने आगे यह दिवाला और

क्या-क्या आपत्तियाँ खड़ी करे। मुझे इतना आगा-पीछा क्यों हो रहा है ? यह केवल आत्म-निर्बलता है वरना यह कोई ऐसा बड़ा काम नहीं, जो किसीने न किया हो। आये-दिन लोग लाखों रुपये दान-पुण्य करते हैं। मुझे अपने कर्तव्य का ज्ञान है। उससे क्यों मुँह मोड़ूँ ? जो कुछ हो, जो चाहे सिर पड़े, इसकी क्या चिन्ता ? कुँवर ने घंटी बजाई। एक क्षण में अरदली आँखें मलता हुआ आया।

कुँवर साहब बोले अभी जेकब साहब बारिस्टर के पास जाकर मेरा सलाम दो। जाग गये होंगे। कहना, जरूरी काम है। नहीं, यह पत्र लेते जाओ. मोटर तैयार करा लो।

(८)

मिस्टर जेकब ने कुँवर साहब को बहुत समझाया कि आप इस दलदल में न फँसे, नहीं तो निकलना कठिन होगा। मालूम नहीं, अभी कितनी ऐसी रकमें हैं। जिनका आपको पता नहीं है ; परन्तु चित्त में दृढ़ हो जानेवाला निश्चय चूने का फर्श है, जिसको आपत्ति के थपेड़े और भी पुष्ट कर देते हैं। कुँवर साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। दूसरे दिन समाचार-पत्रों में छपवा दिया कि मृत महारानी पर जितना कर्ज है वह हम सकारते हैं और नियत समय के भीतर चुका देंगे।

इस विज्ञापन के छपते ही लखनऊ में खलबली पड़ गई। बुद्धिमानों की सम्मति में यह कुँवर महाशय की नितान्त भूल थी, और जो लोग क़ानून से अनभिज्ञ थे, उन्होंने सोचा कि इसमें अवश्य कोई भेद है। ऐसे बहुत कम मनुष्य थे, जिन्हें कुँवर साहब की नीयत की सचाई पर विश्वास आया हो ; परन्तु कुँवर साहब का बखान चाहे न हुआ हो, आशीर्वाद की कमी न थी। बैंक के हजारों गरीब लेनदार सच्चे हृदय से उन्हें आशीर्वाद दे रहे थे।

एक सप्ताह तक कुँवर साहब को सिर उठाने का अवकाश न मिला। मिस्टर जेकब का विचार सत्य सिद्ध हुआ। देना प्रतिदिन बढ़ता जाता था। कितने ही पुर-नोट ऐसे मिले, जिनका उन्हें कुछ भी पता न था। जौहरियों और अन्य बड़े-बड़े दूकानदारों का लेना भी कम न था। अन्दाजन तेरह-चौदह लाख का था। मीजान बीस लाख तक पहुँचा। कुँवर साहब घबराये। शंका हुई—ऐसा न हो कि उन्हें भाइयों का गुजारा भी बन्द करना पड़े, जिसका उन्हें कोई अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि सातवें दिन उन्होंने कई साहूकारों को बुरा-भला कहकर सामने से दूर

किया। जहाँ ब्याज की दर अधिक थी, उसे कम कराया और जिन रकमों की मीयाद बीत चुकी थी, उनसे इनकार कर दिया।

उन्हें साहूकारों की कठोरता पर क्रोध आता था। उनके विचार में महाजनों को डूबते धन का एक भाग पाकर ही सन्तोष कर लेना चाहिए था। इतनी खींच-तान करने पर भी कुल देना उन्नीस लाख से कम न हुआ।

कुँवर साहब इन कामों से अवकाश पाकर एक दिन नेशनल बैंक की ओर जा निकले। बैंक खुला हुआ था। मृतक शरीर में प्राण आ गये थे। लेनदारों की भीड़ लगी हुई थी। लोग प्रसन्न चित्त लौटे जा रहे थे। कुँवर साहब को देखते ही सैकड़ों मनुष्य बड़े प्रेम से उनकी ओर दौड़े। किसी ने रोकर, किसी ने पैरों पर गिरकर और किसी ने सभ्यता-पूर्वक अपनी कृतज्ञता प्रकट की। वह बैंक के कार्यकर्ताओं से भी मिले। लोगों ने कहा—इस विज्ञापन ने बैंक को जीवित कर दिया। बंगाली बाबू ने लाला साईंदास की आलोचना की—वह समझता था, संसार में सब मनुष्य भलमानस हैं। हमको उपदेश करता था। अब उसका आँख खुल गया है। अकेला घर में बैठा रहता है। किसी को मुँह नहीं दिखाता। हम सुनता है, वह यहाँ से भाग जाना चाहता था। परन्तु बड़ा साहब बोला, भागेगा तो तुम्हारा ऊपर वारंट जारी कर देगा। अब साईंदास की जगह बंगाली बाबू मैनेजर हो गये थे।

इसके बाद कुँवर साहब बरहल आये। भाइयों ने यह वृत्तान्त सुना, तो बिगड़े, अदालत की धमकी दी। माताजी को ऐसा धक्का पहुँचा कि वह उसी दिन बीमार होकर एक ही सप्ताह में इस संसार से बिदा हो गईं। सावित्री को भी चोट लगी। पर उसने केवल सन्तोष ही नहीं किया, पति की उदारता और त्याग की प्रशंसा भी की। रह गये लाल साहब। उन्होंने जब देखा कि अस्तबल से घोड़े निकले जाते हैं, हाथी मकनपुर के मेले में बिकने के लिए भेज दिये गये हैं और कहार बिदा किये जा रहे हैं, तो व्याकुल हो पिता से बोले—बाबूजी, यह सब नौकर, घोड़े, हाथी कहाँ जा रहे हैं?

कुँवर—एक राजा साहब के उत्सव में।

लालजी—कौन-से राजा?

कुँवर—उनका नाम राजा दीनसिंह है।

लालजी—कहाँ रहते हैं?

कुँवर—हरिद्रपुर।

लालजी—तो हम भी जायँगे।

कुँवर—तुम्हें भी ले चलेंगे; परन्तु इस बरात में पैदल चलनेवालों का सम्मान सवारों से अधिक होगा।

लालजी—तो हम भी पैदल चलेंगे।

कुँवर—वहाँ परिश्रमी मनुष्य की प्रशंसा होती है।

लालजी—तो हम सबसे ज्यादा परिश्रम करेंगे।

कुँवर साहब के दोनों भाई पाँच-पाँच हज़ार रुपये का गुज़ारा लेकर अलग हो गये। कुँवर साहब अपने और परिवार के लिए कठिनाई से एक हज़ार सालाना का प्रबन्ध कर सके, पर यह आमदनी एक रईस के लिए किसी तरह पर्याप्त नहीं थी। अतिथि-अभ्यागत प्रतिदिन टिके ही रहते थे। उन सबका भी सत्कार करना पड़ता था। बड़ी कठिनाई से निर्वाह होता था। इधर एक वर्ष से शिवदास के कुटुम्ब का भार भी सिर पर आ पड़ा, परन्तु कुँवर साहब कभी अपने निश्चय पर शोक नहीं करते। उन्हें कभी किसी ने चिन्तित नहीं देखा। उनका मुख-मण्डल धैर्य और सच्चे अभिमान से सदैव प्रकाशित रहता है। साहित्य-प्रेम पहले से था। अब बागवानी से प्रेम हो गया है। अपने बाग में प्रातःकाल से शाम तक पौधों की देख-रेख किया करते हैं और लाल साहब तो पक्के कृषक होते दिखाई देते हैं। अभी नव-दस वर्ष से अधिक अवस्था नहीं है; लेकिन अंधेरे मुँह खेतों में पहुँच जाते हैं। खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती।

उनका घोड़ा मौजूद है; परन्तु महीनों उस पर नहीं चढ़ते। उनकी यह धुन देखकर कुँवर साहब प्रसन्न रहते और कहा करते हैं—रियासत के भविष्य की ओर से निश्चिन्त हूँ। लाल साहब कभी इस पाठ को न भूलेंगे। घर-सम्पत्ति होती, तो सुख-भोग, शिकार और दुराचार के सिवा और क्या सूझता! संपत्ति बेचकर हमने परिश्रम और संतोष खरीदा, और यह सौदा बुरा नहीं। सावित्री इतनी संतोषी नहीं। वह कुँवर साहब के रोकने पर भी असामियों से छोटी-मोटी भेंट ले लिया करती है और कुल-प्रथा नहीं तोड़ना चाहती।

आत्माराम

वेदो-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से सन्ध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ गायब हो गई। वह नित्यप्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज़ आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता', लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे, लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—'जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग लें; फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही।' बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगन-भेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्ट-साध्य थीं, तथापि उसे आये-दिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे, पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता था। ज्यों ही यह कलह शान्त होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मन्त्र को जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन से

हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता गायब था। महादेव घबड़ाकर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे; बल्कि इसलिए कि उनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी; इसलिए कि वे उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी, तो वह यही तोता। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शांति भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजड़ा उतार लिया और उसे दिखाकर कहने लगा—'आ आ, सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिये उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मजा आता था। किसी ने कंकण फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं; तोता फिर उड़ा, और वहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजड़ा लिये मेढक की भाँति उचकता चला। बाग में पहुँचा, तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठाकर कहने लगा—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त

दाता' का मन्त्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया और लपका कि तोते को पकड़ लें; किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान् मोह था, तो तोता मूर्तिमयी माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अन्धकार में विलीन हो गया।

(३)

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अन्धकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन-भर कुछ नहीं खाया। रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कण्ठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था; इसलिए कि यह उसकी अंतःप्रेरणा थी; जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उसे चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रहकर झपकियाँ ले लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अन्धकार में उसकी आवाज़ सुनाई देती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।'

आधी रात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला; किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो-ठहरो!' एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये

सब चोर हैं। वह ओर से चिल्ला उठा—'चोर चोर, पकड़ो-पकड़ो!' चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला। मोर्चे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा; हाँ, मोहर थी। उसने तुरंत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साहु से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधी, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटाकर कई गढ़्ढे बनाये, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढँक दिया।

(४)

महादेव के अन्तर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गई; निज संबंधियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग भी लग गया और वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर! उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया, और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज आई—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुँह से निकलते थे; पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण

को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। वह निर्मल वायु उसे गुंजरित न कर सकती थी; पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं। इस वायु-प्रवाह से झूम उठा, गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजड़े को उठाकर बोला—'आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया, पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रखूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।' उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु, तुम कितने दयावान् हो! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त होकर कह उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाद में छिपा दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढँककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहित के घर पहुँचा। पुरोहितजी पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकदमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पण्डितजी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं! रुष्ट होकर पूछा—क्या है जी, क्या कहते हो? जानते नहीं, हम इस समय पूजा पर रहते हैं? महादेव ने कहा—महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।

पुरोहितजी विस्मित हो गये। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—आज क्या है?

महादेव बोला—कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। वेंदो और निकटवर्ती गांवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था। जो सुनता, आश्चर्य करता। आज रेत में दूब कैसे जमी!

सन्ध्या समय जब सब लोग जमा हो गये, पण्डितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितने खरे को खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकारकर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिए, कल से एक महीने तक जब जी चाहे आये, और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—हम कहते न थे! किसी ने अविश्वास से कहा—क्या खाकर भरेगा, हजारों का टोटल हो जायगा।

एक ठाकुर ने ठठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये?

महादेव ने उत्तर दिया—उनके घरवाले तो होंगे।

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया? किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है और ऐसे पवित्र अवसर

पर भूल चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—तुम्हें याद है, मैंने एक कण्ठा बनाने के लिए सोना दिया था, तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा?

पुरोहित—पचास रुपये से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहितजी के सामने रख दीं।

पुरोहितजी की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को तो पण्डित, पर नीयत ऐसी खराब! राम-राम!!

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया, पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं, इसलिए आज कथा होने दीजिए, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञान हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है और अच्छों के लिए अच्छा।

(६)

इस घटना को हुए पचास वर्ष बीत चुके हैं। आप वेंदो जाइए, तो दूर ही से एक सुनहला कलस दिखाई देता है। वह ठाकुर-द्वारे का कलश है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता; तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्मा-

राम का स्मृति-चिह्न है, उनके सम्बन्ध में विभिन्न किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, उसका रत्नजटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है, वह 'सत्त गुरुदत्त' कहता हुआ अन्तर्द्धान हो गया, पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी-रूपी चन्द्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी कितनी जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

दुर्गा का मन्दिर

बाबू ब्रजनाथ कानून पढ़ने में मग्न थे, और उनके दोनों बच्चे लड़ाई करने में। श्यामा चिल्लाती कि मन्नू मेरी गुड़िया नहीं देता। मन्नू रोता था कि श्यामा ने मेरी मिठाई खा ली।

ब्रजनाथ ने क्रुद्ध होकर भामा से कहा—तुम इन दुष्टों को यहाँ से हटाती हो कि नहीं? नहीं तो मैं एक-एक की खबर लेता हूँ।

भामा चूल्हे में आग जला रही थी; बोली—अरे तो अब क्या संध्या को भी पढ़ते ही रहोगे? ज़रा दम तो ले लो।

ब्रज०—उठा तो न जायगा; बैठी बैठी वहीं से कानून बघारोगी! अभी एक आध को पटक दूँगा, तो वहीं से गरजती हुई आओगी कि हाय-हाय! बच्चे को मार डाला!

भामा - तो मैं कुछ बैठी या सोई तो नहीं हूँ। ज़रा एक घड़ी तुम्हीं लड़कों को बहलाओगे, तो क्या होगा! कुछ मैंने ही तो उनकी नौकरी नहीं लिखाई!

ब्रजनाथ से कोई जवाब न देते बन पड़ा। क्रोध पानी के समान बहाव का मार्ग न पाकर और भी प्रबल हो जाता है। यद्यपि ब्रजनाथ नैतिक सिद्धान्तों के ज्ञाता थे, पर उनके पालन में इस समय कुशल न दिखाई दी। मुद्दई और मुद्दालेह, दोनों को एक ही लाठी हाँका, और दोनों को रोते-चिल्लाते छोड़ कानून का ग्रन्थ बगल में दबा कालेज-पार्क की राह ली।

(२)

सावन का महीना था। आज कई दिन के बाद बादल हटे थे। हरे-भरे वृक्ष सुनहरी चादर ओढ़े खड़े थे। मृदु समीर सावन का राग गाता था, और बगले डालियों पर बैठे हिंडोले झूल रहे थे। ब्रजनाथ एक बेंच पर जा बैठे और किताब खोली लेकिन इस ग्रन्थ की अपेक्षा प्रकृति-ग्रन्थ का अवलोकन अधिक चित्ताकर्षक था। कभी आसमान को पढ़ते थे, कभी पत्तियों को, कभी छविमयी हरियाली को और कभी सामने मैदान में खेलते हुए लड़कों को।

एकाएक उन्हें सामने घास पर कागज की एक पुड़िया दिखाई दी। माया ने जिज्ञासा की—आड़ में चलो, देखें इसमें क्या है?

बुद्धि ने कहा—तुमसे मतलब? पड़ी रहने दो।

लेकिन जिज्ञासा-रूपी माया की जीत हुई। व्रजनाथ ने उठकर पुड़िया उठा ली। कदाचित् किसी के पैसे पुड़िया में लिपटे गिर पड़े हैं। खोलकर देखा; सावरेन थे। गिना, पूरे आठ निकले। कुतूहल की सीमा न रही।

व्रजनाथ की छाती धड़कने लगी। आठों सावरेन हाथ में लिये सोचने लगे, इन्हें क्या करूँ? अगर यहीं रख दूँ, तो न जाने किसकी नज़र पड़े; न मालूम कौन उठा ले जाय! नहीं, यहाँ रहना उचित नहीं। चलूँ, थाने में इत्तला कर दूँ और ये सावरेन थानेदार को सौंप दूँ। जिसके होंगे, वह आप ले जायगा या अगर उसको न भी मिलें, तो मुझ पर कोई दोष न रहेगा, मैं तो अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँगा!

माया ने परदे की आड़ से मन्त्र मारना शुरू किया। वह थाने नहीं गये, सोचा—चलूँ, भामा से एक दिल्लगी करूँ। भोजन तैयार होगा। कल इतमीनान से थाने जाऊँगा।

भामा ने सावरेन देखे, हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई। पूछा—किसकी हैं?

व्रज०—मेरी

भामा—चलो, कहीं हों न!

व्रज०—पड़ी मिली हैं।

भामा—झूठ बात। ऐसे ही भाग्य के बली तो हो, सच बताओ, कहाँ मिलीं? किसकी हैं?

व्रज०—सच कहता हूँ, पड़ी मिली हैं।

भामा—मेरी कसम?

व्रज०—तुम्हारी कसम।

भामा गिन्नियों को पति के हाथ से छीनने की चेष्टा करने लगी।

व्रजनाथ ने कहा—क्यों छीनती हो?

भामा—लाओ, मैं अपने पास रख लूँ।

व्रज०—रहने दो, मैं इसकी इत्तला करने थाने जाता हूँ।

भामा का मुख मलिन हो गया। बोली—पड़े हुए धन को क्या इत्तला?

व्रज०—हाँ, और क्या, इन आठ गिन्नियों के लिए ईमान बिगाड़ूँ न?

भामा—अच्छा तो सवेरे चले जाना। इस समय जाओगे, तो आने में देर होगी।

व्रजनाथ ने भी सोचा, यही अच्छा। थानेवाले रात को तो कोई कार्रवाई करेंगे नहीं। जब अशर्फियों को पड़ा ही रहना है, तब जैसे थाना वैसे मेरा घर।

गिन्नियाँ सन्दूक में रख दीं। खा-पीकर लेटे, तो भामा ने हँसकर कहा—आया धन क्यों छोड़ते हो? लाओ, मैं अपने लिए एक गुलूबन्द बनवा लूँ, बहुत दिनों से जी तरस रहा है।

माया ने इस समय हास्य का रूप धारण किया।

व्रजनाथ ने तिरस्कार करके कहा—गुलूबन्द की लालसा में गले में फाँसी लगाना चाहती हो क्या?

(२)

प्रातःकाल व्रजनाथ थाने जाने के लिए तैयार हुए। कानून का एक लेक्चर छूट जायगा, कोई हरज नहीं। वह इलाहाबाद की हाईकोर्ट में अनुवादक थे। नौकरी में उन्नति की आशा न देखकर साल-भर से वकालत की तैयारी में मग्न थे; लेकिन अभी कपड़े पहन ही रहे थे कि उनके एक मित्र मुन्शी गोरेलाल आकर बैठ गये, और अपनी पारिवारिक दुश्चिन्ताओं की विस्तृत राम-कहानी सुनाकर अत्यन्त विनीत भाव से बोले—भाई साहब, इस समय मैं इन झंझटों में ऐसा फँस गया हूँ कि बुद्धि कुछ काम नहीं करती। तुम बड़े आदमी हो। इस समय कुछ सहायता करो। ज्यादा नहीं, तीस रुपये दे दो। किसी-न-किसी तरह काम चला लूँगा। आज तीस तारीख है। कल शाम को तुम्हें रुपये मिल जायँगे।

व्रजनाथ बड़े आदमी तो न थे; किन्तु बड़प्पन की हवा बाँध रखी थी। यह मिथ्याभिमान उनके स्वभाव की एक दुर्बलता थी। केवल अपने वैभव का प्रभाव डालने के लिए ही वह बहुधा मित्रों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं पर अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को निछावर कर दिया करते थे; लेकिन भामा को इस विषय में उनसे सहानुभूति न थी; इसीलिए जब व्रजनाथ पर इस प्रकार का संकट आ पड़ता था, तब थोड़ी देर के लिए उनकी पारिवारिक शान्ति अवश्य नष्ट हो जाती थी। उनमें इनकार करने या टालने की हिम्मत न थी।

वह कुछ सकुचते हुए भामा के पास गये और बोले—तुम्हारे पास तीस रुपये तो न होंगे ? मुन्शी गोरेलाल माँग रहे हैं।

भामा ने रुखाई से कहा—मेरे पास तो रुपये नहीं हैं।

ब्रज०—होंगे तो ज़रूर, बहाना करती हो।

भामा—अच्छा, बहाना ही सही।

ब्रज०—तो मैं उनसे क्या कह दूँ ?

भामा—कह दो, घर में रुपये नहीं हैं, तुमसे न कहते बने, तो मैं पर्दे की आड़ से कह दूँ।

ब्रज०—कहने को तो मैं कह दूँ, लेकिन उन्हें विश्वास न आवेगा। समझेंगे, बहाना कर रहे हैं।

भामा—समझेंगे, तो समझा करें।

ब्रज०—मुझसे तो ऐसी बेमुरौवती नहीं हो सकती। रात-दिन साथ ठहरा, कैसे इनकार करूँ ?

भामा—अच्छा, तो जो मन में आवे, सो करो। मैं एक बार कह चुकी, मेरे पास रुपये नहीं हैं।

ब्रजनाथ मन में बहुत खिन्न हुए। उन्हें विश्वास था कि भामा के पास रुपये हैं; लेकिन केवल मुझे लज्जित करने के लिए इनकार कर रही है। दुराग्रह ने संकल्प को दृढ़ कर दिया। सन्दूक से दो गिन्नियाँ निकालीं और गोरेलाल को देकर बोले—भाई, कल शाम को कचहरी से आते ही रुपये दे जाना। ये एक आदमी की अमानत हैं। मैं इसी समय देने जा रहा था—यदि कल रुपये न पहुँचे तो मुझे बहुत लज्जित होना पड़ेगा; कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा।

गोरेलाल ने मन में कहा—अमानत स्त्री के सिवा और किसकी होगी, और गिन्नियाँ जेब में रखकर घर की राह ली।

(४)

आज पहली तारीख़ की संध्या है। ब्रजनाथ दरवाजे पर बैठे गोरेलाल का इन्तज़ार कर रहे हैं।

पाँच बज गये, गोरेलाल अभी तक नहीं आये। ब्रजनाथ की आँखें रास्ते की तरफ़ लगी हुई थीं। हाथ में एक पत्र था; लेकिन पढ़ने में जी न लगता था। हर

तीसरे मिनट रास्ते की ओर देखने लगते थे ; लेकिन सोचते थे—आज वेतन मिलने का दिन है। इसी कारण आने में देर हो रही है ; आते ही होंगे। छः बजे ; गोरेलाल का पता नहीं। कचहरी के कर्मचारी एक-एक करके चले आ रहे थे। व्रजनाथ को कई बार धोखा हुआ। वह आ रहे हैं। जरूर वही हैं। वैसी ही अचकन है। वैसी ही टोपी। चाल भी वही है। हाँ, वही हैं। इसी तरफ़ आ रहे हैं। अपने हृदय से एक बोझा-सा उतरता मालूम हुआ ; लेकिन निकट आने पर ज्ञात हुआ कि कोई और है। आशा की कल्पित मूर्ति दुराशा में बदल गई।

व्रजनाथ का चित्त खिन्न होने लगा। वह एक बार कुरसी से उठे। बरामदे की चौखट पर खड़े हो, सड़क पर दोनों तरफ़ निगाह दौड़ाई। कहीं पता नहीं।

दो-तीन बार दूर से आते हुए इक्कों को देखकर गोरेलाल का भ्रम हुआ। आकांक्षा की प्रबलता !

सात बजे चिराग जल गये। सड़क पर अँधेरा छाने लगा। व्रजनाथ सड़क पर उद्विग्न भाव से टहलने लगे। इरादा हुआ, गोरेलाल के घर चलूँ। उधर क़दम बढ़ाये ; लेकिन हृदय काँप रहा था कि कहीं वह रास्ते में आते हुए न मिल जायँ, तो समझें कि थोड़े-से रुपयों के लिए इतने व्याकुल हो गये। थोड़ी ही दूर गये कि किसी को आते देखा। भ्रम हुआ, गोरेलाल हैं। मुड़े, और सीधे बरामदे में आकर दम लिया ; लेकिन फिर वही धोखा ! फिर वही भ्रांति ! तब सोचने लगे, कि इतनी देर क्यों हो रही है ? क्या अभी तक वह कचहरी से न आये होंगे ? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। उनके दफ़्तरवाले, मुद्दत हुई, निकल गये। बस दो बातें हो सकती हैं, या तो उन्होंने कल आने का निश्चय कर लिया, समझे होंगे, रात को कौन जाय, या जान बूझकर बैठ रहे होंगे, देना न चाहते होंगे, उस समय उनको गरज़ थी, इस समय मुझे गरज़ है। मैं ही किसी को क्यों न भेज दूँ ? लेकिन किसे भेजूँ ? मुन्नू जा सकता है। सड़क ही पर मकान है। यह सोचकर कमरे में गये, लैंप जलाया और पत्र लिखने बैठे ; मगर आँखें द्वार ही की ओर लगी हुई थीं। अकस्मात् किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। तुरन्त पत्र को एक किताब के नीचे दबा लिया और बरामदे में चले आये। देखा, पड़ोस का एक कुँजड़ा तार पढ़ाने आया है। उससे बोले—भाई, इस समय फ़ुरसत नहीं है ; थोड़ी देर में आना। उसने कहा—बाबूजी, घर-भर के आदमी घबराये हैं, ज़रा एक निगाह देख लीजिए। निदान व्रजनाथ ने

झुँझलाकर उसके हाथ से तार ले लिया, और सरसरी नज़र से देखकर बोले—कलकत्ते से आया है। माल नहीं पहुँचा। कुँजड़े ने डरते-डरते कहा—बाबूजी, इतना और देख लीजिए, किसने भेजा है। इस पर ब्रजनाथ ने तार को फेंक दिया, और बोले—मुझे इस वक्त फ़ुरसत नहीं है।

आठ बज गये। ब्रजनाथ को निराशा होने लगी। मुन्नू इतनी रात बीते नहीं जा सकता। मन में निश्चय किया, आप ही जाना चाहिए, बला से बुरा मानेंगे। इसकी कहाँ तक चिन्ता करूँ? स्पष्ट कह दूँगा, मेरे रुपये दे दो। भलमनसी भलेमानसों से निभाई जा सकती है। ऐसे धूर्तों के साथ भलमनसी का व्यवहार करना मूर्खता है। अचकन पहनी, घर में जाकर भामा से कहा—ज़रा एक काम से बाहर जाता हूँ, किवाड़ें बन्द कर लो।

चलने को तो चले; लेकिन पग-पग पर रुकते जाते थे। गोरेलाल का घर दूर से दिखाई दिया; लैंप जल रहा था। ठिठक गये और सोचने लगे—चलकर क्या कहूँगा? कहीं उन्होंने जाते-जाते रुपये निकालकर दे दिये, और देर के लिए क्षमा माँगी, तो मुझे बड़ी झेंप होगी। वह मुझे क्षुद्र, ओछा, धैर्य-हीन समझेंगे। नहीं, रुपयों की बातचीत करूँ ही क्यों? कहूँगा—भाई, घर में बड़ी देर से पेट दर्द कर रहा है। तुम्हारे पास पुराना तेज़ सिरका तो नहीं है? मगर नहीं, यह बहाना कुछ भद्दा-सा प्रतीत होता है, साफ़ क़लई खुल जायगी। ऊँह! इस झंझट की ज़रूरत ही क्या है? वह मुझे देखकर आप ही समझ जायँगे। इस विषय में बातचीत की कुछ नौबत ही न आवेगी। ब्रजनाथ इसी उधेड़बुन में आगे बढ़ते चले जाते थे, जैसे नदी में लहरें चाहे किसी ओर चलें, धारा अपना मार्ग नहीं छोड़ती।

गोरेलाल का घर आ गया। द्वार बन्द था। ब्रजनाथ को उन्हें पुकारने का साहस न हुआ। समझे, खाना खा रहे होंगे। दरवाजे के सामने से निकले, और धीरे-धीरे टहलते हुए एक मील तक चले गये। नौ बजने की आवाज़ कान में आई। गोरेलाल भोजन कर चुके होंगे, यह सोचकर लौट पड़े; लेकिन द्वार पर पहुँचे, तो अँधेरा था। वह आशारूपी दीपक बुझ गया था। एक मिनट तक दुविधा में खड़े रहे। क्या करूँ? अभी बहुत सबेरा है। इतनी जल्दी थोड़े ही सो गये। दबे पाँव बरामदे पर चढ़े। द्वार पर कान लगाकर सुना, चारों ओर ताक रहे थे कि कहीं कोई देख न ले। कुछ बातचीत की भनक कान में पड़ी। ध्यान से सुना। स्त्री कह रही थी—रुपये

तो सब उठ गये, ब्रजनाथ को कहाँ से दोगे ? गोरेलाल ने उत्तर दिया—ऐसी कौन-सी उतावली है, फिर दे देंगे। आज दरख्वास्त दे दी है, कल मंजूर ही हो जायगी। तीन महीने के बाद लौटेंगे, तब देखा जायगा।

ब्रजनाथ को ऐसा जान पड़ा, मानों मुँह पर किसी ने तमाचा मार दिया। क्रोध और नैराश्य से भरे हुए बरामदे से उतर आये। घर चले, तो सीधे क़दम न पड़ते थे, जैसे कोई दिन-भर का थका-माँदा पथिक हो।

(५)

ब्रजनाथ रात-भर करवटें बदलते रहे। कभी गोरेलाल की धूर्त्तता पर क्रोध आता था, कभी अपनी सरलता पर; मालूम नहीं, किसी ग़रीब के रुपये हैं। उस पर क्या बीती होगी! लेकिन अब क्रोध या खेद से क्या लाभ? सोचने लगे—रुपये कहाँ से आवेंगे, भामा पहले ही इनकार कर चुकी है; वेतन में इतनी गुंजायश नहीं। दस-पाँच रुपये की बात होती तो कोई कतर-ब्योंत करता। तो क्या करूँ? किसी से उधार लूँ? मगर मुझे कौन देगा? आज तक किसी से माँगने का संयोग नहीं पड़ा, और अपना कोई ऐसा मित्र है भी तो नहीं? जो लोग हैं, वे मुझी को सताया करते हैं; मुझे क्या देंगे। हाँ, यदि कुछ दिन क़ानून छोड़कर अनुवाद करने में परिश्रम करूँ, तो रुपये मिल सकते हैं। कम-से-कम एक मास का कठिन परिश्रम है। सस्ते अनुवादकों के मारे दर भी तो गिर गई है। हा निर्दयी! तूने बड़ी दगा की। न जाने किस जन्म का बैर चुकाया। कहीं का न रखा!

दूसरे दिन से ब्रजनाथ को रुपयों की धुन सवार हुई। सवेरे क़ानून के लेक्चर में सम्मिलित होते, संध्या को कचहरी से तजवीज़ों का पुलिंदा घर लाते, और आधी रात तक बैठे अनुवाद किया करते। सिर उठाने की मुहलत न मिलती। कभी एक-दो भी बज जाते। जब मस्तिष्क बिलकुल शिथिल हो जाता, तब विवश होकर चार-पाई पर पड़ रहते।

लेकिन इतने परिश्रम का अभ्यास न होने के कारण कभी-कभी सिर में दर्द होने लगता। कभी पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ जाता, कभी ज्वर चढ़ आता। तिस पर भी वह मशीन की तरह काम में लगे रहते। भामा कभी-कभी झुँझलाकर कहती—अजी, लेट भी रहो; बड़े धर्मात्मा बने हो। तुम्हारे जैसे दस-पाँच आदमी और होते,

तो संसार का काम ही बन्द हो जाता। व्रजनाथ इस बाधाकारी व्यंग्य का उत्तर न देते ; दिन निकलते ही फिर वही चरखा ले बैठते।

यहाँ तक कि तीन सप्ताह बीत गये और पचीस रुपये हाथ आ गये। व्रजनाथ सोचते थे—दो-तीन दिन में बेड़ा पार है ; लेकिन इक्कीसवें दिन उन्हें प्रचण्ड ज्वर चढ़ आया और तीन दिन तक न उतरा। छुट्टी लेनी पड़ी, शय्या-सेवी बन गये। भादों का महीना था। भामा ने समझा, पित्त का प्रकोप है ; लेकिन जब एक सप्ताह तक डाक्टर की औषधि सेवन करने पर भी ज्वर न उतरा, तब घबराई। व्रजनाथ प्रायः ज्वर में बक-झक भी करने लगते। भामा सुनकर डर के मारे कमरे में से भाग जाती। बच्चों को पकड़कर दूसरे कमरे में बन्द कर देती। अब उसे शंका होने लगती थी कि कहीं यह कष्ट उन्हीं रुपयों के कारण तो नहीं भोगना पड़ रहा है। कौन जाने, रुपयेवाले ने कुछ कर-धर दिया हो! जरूर यही बात है, नहीं तो औषधि से लाभ क्यों नहीं होता?

संकट पड़ने पर हम धर्मभीरु हो जाते हैं, औषधियों से निराश होकर देवतों की शरण लेते हैं। भामा ने भी देवतों की शरण ली। वह जन्माष्टमी, शिवरात्रि और तीज के सिवा कोई व्रत न रखती थी। इस बार उसने नवरात्र का कठिन व्रत शुरू किया।

आठ दिन पूरे हो गये। अन्तिम दिन आया। प्रभात का समय था। भामा ने व्रजनाथ को दवा पिलाई और दोनों बालकों को लेकर दुर्गाजी की पूजा करने मन्दिर में चली। उसका हृदय आराध्य देवी के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण था। मन्दिर के आँगन में पहुँची। उपासक आसनों पर बैठे हुए दुर्गापाठ कर रहे थे। धूप और अगर की सुगन्ध उड़ रही थी। उसने मन्दिर में प्रवेश किया। सामने दुर्गा की विशाल प्रतिमा शोभायमान थी। उसके मुखारविन्द पर एक विलक्षण दीप्ति झलक रही थी। बड़े उज्ज्वल नेत्रों से प्रभा की किरणें छिटक रही थीं। पवित्रता का एक समा-सा छाया हुआ था। भामा इस दीप्त वर्ण मूर्ति के सम्मुख सीधी आँखों से ताक न सकी। उसके अन्तःकरण में एक निर्मल, विशुद्ध, भाव-पूर्ण भय का उदय हो आया। उसने आँखें बन्द कर लीं। घुटनों के बल बैठ गई, और हाथ जोड़कर करुण स्वर से बोली—माता, मुझ पर दया करो।

उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों देवी मुसकिराईं। उसे उन दिव्य नेत्रों से एक ज्योति-

सी निकलकर अपने हृदय में आती हुई मालूम हुई। उसके कानों में देवी के मुँह से निकले ये शब्द सुनाई दिये—पराया धन लौटा दे, तेरा भला होगा।

भामा उठ बैठी। उसकी आँखों में निर्मल भक्ति का आभास झलक रहा था। मुखमण्डल से पवित्र प्रेम बरसा पड़ता था। देवी ने कदाचित् उसे अपनी प्रभा के रंग में डुबा दिया था।

इतने में दूसरी एक स्त्री आई। उसके उज्ज्वल केश बिखरे और मुरझाये हुए चेहरे के दोनों ओर लटक रहे थे। शरीर पर केवल एक श्वेत साड़ी थी। हाथ में चूड़ियों के सिवा और कोई आभूषण न था। शोक और नैराश्य की साक्षात् मूर्ति मालूम होती थी। उसने भी देवी के सामने सिर झुकाया और दोनों हाथों से आँचल फैलाकर बोली—देवी, जिसने मेरा धन लिया हो उसका सर्वनाश करो।

जैसे सितार मिजराब की चोट खाकर थरथरा उठता है, उसी प्रकार भामा का हृदय अनिष्ट के भय से थरथरा उठा। ये शब्द तीव्र शर के समान उसके कलेजे में चुभ गये। उसने देवी की ओर कातर नेत्रों से देखा। उनका ज्योतिर्मय स्वरूप भयंकर था, नेत्रों से भीषण ज्वाला निकल रही थी। भामा के अन्तःकरण में सर्वत्र आकाश से, मन्दिर के सामनेवाले वृक्षों से, मन्दिर के स्तम्भों से, सिंहासन के ऊपर जलते हुए दीपक से और देवी के विकराल मुँह से ये शब्द निकलकर गूँजने लगे—पराया धन लौटा दे, नहीं तो तेरा सर्वनाश हो जायगा।

भामा खड़ी हो गई और उस वृद्धा से बोली—क्यों माता, तुम्हारा धन किसी ने ले लिया है?

वृद्धा ने इस प्रकार उसकी ओर देखा, मानों डूबते को तिनके का सहारा मिला। बोली—हाँ बेटी!

भामा—कितने दिन हुए?

वृद्धा—कोई डेढ़ महीना।

भामा—कितने रुपये थे?

वृद्धा—पूरे एक सौ बीस।

भामा—कैसे खोये?

वृद्धा—क्या जाने कहाँ गिर गये। मेरे स्वामी पलटन में नौकर थे। आज कई बरस हुए, वह परलोक सिधारे। अब मुझे सरकार से साठ रुपये साल पेन्शन मिलती

है। आपकी दो साल की पेन्शन एक साथ ही मिली थी। खजाने से रुपये लेकर आ रही थी। मालूम नहीं, कब और कहाँ गिर पड़े। आठ गिन्नियाँ थीं।

भामा—अगर वे तुम्हें मिल जायँ, तो क्या दोगी?

वृद्धा—अधिक नहीं, उसमें से पचास रुपये दे दूँगी।

भामा—रुपये क्या होंगे, कोई उससे अच्छी चीज़ दो।

वृद्धा—बेटी, और क्या दूँ, जब तक जीऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी।

भामा—नहीं, इसकी मुझे आवश्यकता नहीं।

वृद्धा—बेटी, इसके सिवा मेरे पास क्या है?

भामा—मुझे आशीर्वाद दो। मेरे पति बीमार हैं, वह अच्छे हो जायँ।

वृद्धा—क्या उन्हीं को रुपये मिले हैं?

भामा—हाँ, वह उसी दिन से तुम्हें खोज रहे हैं।

वृद्धा घुटनों के बल से बैठ गई, और आँचल फैलाकर कम्पित स्वर से बोली—देवी! इनका कल्याण करो।

भामा ने फिर देवी की ओर सशंक दृष्टि से देखा। उनके दिव्य रूप पर प्रेम का प्रकाश था। आँखों में दया की आनन्ददायिनी झलक थी। उस समय भामा के अन्तःकरण में कहीं स्वर्गलोक से यह ध्वनि सुनाई दी—जा, तेरा कल्याण होगा।

(६)

सन्ध्या का समय है। भामा ब्रजनाथ के साथ इक्के पर बैठी तुलसी के घर, उसकी थाती लौटाने जा रही है। ब्रजनाथ के बड़े परिश्रम की कमाई तो डाक्टर की भेंट हो चुकी है; लेकिन भामा ने एक पड़ोसी के हाथ अपने कानों के झुमके बेचकर रुपये जुटाये हैं। जिस समय झुमके बनकर आये थे, भामा बहुत प्रसन्न हुई थी। आज उन्हें बेचकर वह उससे भी अधिक प्रसन्न है।

जब ब्रजनाथ ने आठों गिन्नियाँ उसे दिखाई थीं, उसके हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई थी; लेकिन यह हर्ष मुख पर आने का साहस न कर सका था। आज उन गिन्नियों को हाथ से जाते समय उसका हार्दिक आनन्द आँखों में चमक रहा है, ओठों पर नाच रहा है, कपोलों को रँग रहा है और अंगों पर किलोल कर रहा है। वह इन्द्रियों का आनन्द था, यह आत्मा का आनन्द है; वह आनन्द लज्जा के भीतर छिपा हुआ था, यह आनन्द गर्व से बाहर निकला पड़ता है।

तुलसी का आशीर्वाद सफल हुआ। आज पूरे तीन सप्ताह के बाद ब्रजनाथ तकिये के सहारे बैठे थे। वह बार-बार भामा को प्रेम-पूर्ण नेत्रों से देखते थे। वह आज उन्हें देवी मालूम होती थी। अब तक उन्होंने उसके बाह्य सौन्दर्य की शोभा देखी थी, आज वह उसका आत्मिक सौन्दर्य देख रहे हैं।

तुलसी का घर एक गली में था। इक्का सड़क पर जाकर ठहर गया। ब्रजनाथ इक्के पर से उतरे, और अपनी छड़ी टेकते हुए भामा के हाथों के सहारे तुलसी के घर पहुंचे। तुलसी ने रुपये लिये और दोनों हाथ फैलाकर आशीर्वाद दिया—दुर्गाजी तुम्हारा कल्याण करें।

तुलसी का वर्णहीन मुख वैसे ही खिल गया, जैसे वर्षा के पीछे वृक्षों की पत्तियां खिल जाती हैं। सिमटा हुआ अंग फैल गया, गालों की झुर्रियां मिटती देख पड़ीं। ऐसा मालूम होता था, मानों उसका कायाकल्प हो गया।

वहां से आकर ब्रजनाथ अपने द्वार पर बैठे हुए थे कि गोरेलाल आकर बैठ गये। ब्रजनाथ ने मुँह फेर लिया।

गोरेलाल बोले—भाई साहब, कैसी तबीयत है ?

ब्रजनाथ—बहुत अच्छी तरह हूँ।

गोरेलाल—मुझे क्षमा कीजिएगा। मुझे इसका बहुत खेद है कि आपके रुपये देने में इतना विलम्ब हुआ। पहली तारीख़ ही को घर से एक आवश्यक पत्र आ गया, और मैं किसी तरह तीन महीने की छुट्टी लेकर घर भागा। वहाँ की विपत्ति कथा कहूँ, तो समाप्त न हो ; लेकिन आपकी बीमारी का शोक-समाचार सुनकर आज भागा चला आ रहा हूँ। ये लीजिए, रुपये हाज़िर हैं। इस विलम्ब के लिए अत्यन्त लज्जित हूँ।

ब्रजनाथ का क्रोध शान्त हो गया। विनय में कितनी शक्ति है! बोले—हाँ, हाँ, बीमार तो था ; लेकिन अब अच्छा हो गया हूँ। आपको मेरे कारण व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ा। यदि इस समय आपको असुविधा हो तो रुपये फिर दे दीजिएगा। मैं अब उऋण हो गया हूँ। कोई जल्दी नहीं है।

गोरेलाल बिदा हो गये, तो ब्रजनाथ रुपये लिये हुए भीतर आये और भामा से बोले—ये लो अपने रुपये ; गोरेलाल दे गये।

आभा ने कहा—ये मेरे रुपये नहीं, तुलसी के हैं; एक बार पराया धन लेकर सीख गई।

ब्रज०—लेकिन तुलसी के तो पूरे रुपये दे दिये गये ?

आभा—दे दिये गये, तो क्या हुआ ? ये उसके आशीर्वाद की न्योछावर हैं।

ब्रज०—कान के झुमके कहाँ से आवेंगे ?

आभा—झुमके न रहेंगे, न सही, सदा के लिए 'कान' तो हो गये।

बड़े घर की बेटी

बेनीमाधव सिंह गौरीपुर-गाँव के ज़मींदार और नम्बरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य-संपन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तंभ थे। कहते हैं, इस दरवाज़े पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में अस्थि-पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था; पर दूध शायद बहुत देती थी; क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँड़ी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधव सिंह अपनी आधी से अधिक सपत्ति वकीलों को भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय एक हज़ार रुपये वार्षिक से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकंठ सिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ़्तर में नौकर था। छोटा लड़का लालबिहारी सिंह दोहरे बदन का, सजील जवान था। भरा हुआ मुखड़ा, चौड़ी छाती। भैंस का दो सेर ताज़ा दूध वह उठकर सवेरे पी जाता था। श्रीकंठ सिंह की दशा बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने बी० ए०—इन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कांतिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक-ग्रन्थों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वैदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। शाम-सवेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकंठ इस अँगरेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे; बल्कि वह बहुधा बड़े ज़ोर से उनकी निन्दा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते थे। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अङ्ग था। सम्मिलित कुटुम्ब के तो वह एक-मात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की कुटुम्ब में मिल-जुलकर रहने की जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और

देश दोनों के लिए हानिकारक समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निन्दक थीं! कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं। स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। यह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास-ससुर, देवर या जेठ आदि से घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये-दिन के कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाई जाय।

आनन्दी एक बड़े उच्च कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल-भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज़, बहरी-शिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे। नाम था भूपसिंह। बड़े उदार-चित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे; पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब-की-सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किये; पर जब पन्द्रह-बीस हज़ार रुपयों का कर्ज़ सिर पर हो गया, तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनन्दी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणवती थी। इससे ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं! ठाकुर साहब बड़े धर्म-संकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें? न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्य-हीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चन्दे का रुपया माँगने आये। शायद नागरी-प्रचार का चन्दा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकंठ सिंह का आनन्दी के साथ ब्याह हो गया।

आनन्दी अपने नये घर में आई, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी, हाथी, घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहली तक न थी। रेशमी-स्लीपर साथ लाई थी; पर यहाँ बाग कहाँ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थ का मकान था; किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को

इस नई अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानों उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे ।

(२)

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारी सिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया और भावज से बोला—जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है । आनन्दी भोजन बनाकर इसकी राह देख रही थी । अब वह नया व्यञ्जन बनाने बैठी । हाँडी में देखा, तो घी पाव-भर से अधिक न था । बड़े घर की बेटी, किफायत क्या जाने । उसने सब घी मांस में डाल दिया । लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा ?

आनन्दी ने कहा—घी सब मांस में पड़ गया । लालबिहारी जोर से बोला—अभी परसों घी आया है ! इतना जल्द उठ गया ?

आनन्दी ने उत्तर दिया—आज तो कुल पाव-भर रहा होगा । वह सब मैंने मांस में डाल दिया ।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाता है । लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई, तनककर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो !

स्त्री गालियाँ सह लेती हैं, मार भी सह लेती हैं ; पर मैके की निन्दा उनसे नहीं सही जाती । आनन्दी मुँह फेरकर बोली—हाथी मरा भी, तो नौ लाख का । वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं ।

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी, और बोला—जी चाहता है जीभ पकड़कर खींच लूँ ।

आनन्दी को भी क्रोध आ गया । मुँह लाल हो गया, बोली—वह होते, तो आज इसका मज़ा चखाते ।

अब अपढ़, उजड्ड ठाकुर से न रहा गया । उसकी स्त्री एक साधारण ज़मींदार की बेटी थी । जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ़ कर लिया करता था । उसने खड़ाऊँ उठाकर आनन्दी की ओर जोर से फेंकी, और बोला—जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी !

आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी ; सिर बच गया ; पर उँगली में बड़ी चो

आईं। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गईं। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमण्ड होता है। आनन्दी खून का घूँट पीकर रह गईं।

(३)

श्रीकंठ सिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई थी, दो दिन तक आनन्दी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया, न पिया, उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल सन्ध्या समय घर आये और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश-काल सम्बन्धी समाचार तथा कुछ नये मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनन्द मिलता था कि खाने-पीने की भी सुध न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घण्टे आनन्दी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। जब एकान्त हुआ तो लालबिहारी ने कहा—भैया, आप ज़रा भाभी को समझा दीजिएगा कि मुँह सँभालकर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधव सिंह ने बेटे की ओर साक्षी दी—हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि मर्दों के मुँह लगें।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी है, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।

श्रीकंठ ने चिंतित स्वर से पूछा—आखिर बात क्या हुई?

लालबिहारी ने कहा—कुछ भी नहीं, यों ही आप-ही-आप उलझ पड़ीं। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नहीं।

श्रीकंठ खा-पीकर आनन्दी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हज़रत भी कुछ तीखे थे। आनन्दी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है?

श्रीकंठ बोले—बहुत प्रसन्न है; पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है?

आनन्दी की तेवरियों पर बल पड़ गये, झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—जिसने तुमसे यह आग लगाई है, उसे पाऊँ, तो मुँह झुलस दूँ।

श्रीकंठ—इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।

आनन्दी—क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है! नहीं तो एक गँवार छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।

श्रीकंठ—सब साफ़-साफ़ हाल कहो, तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनन्दी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँडी में पाव-भर से अधिक न था। वह सब मैंने मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा, तो कहने लगा—दाल में घी क्यों नहीं है? बस, इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा—मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं, और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस, इतनी-सी बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लूँ, तो सिर फट जाय। उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।

श्रीकंठ की आँखें लाल हो गईं। बोले—यहाँ तक हो गया! इस छोकरे का यह साहस!

आनन्दी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्यवान् और शांत पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था; पर स्त्रियों के आँसू पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात-भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपके। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा।

इस तरह की विद्रोह-पूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था; परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ीं! दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधव सिंह घबरा उठे और बोले—क्यों?

श्रीकंठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा, घर पर रहता नहीं; यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिंता नहीं, कोई एक की दो कह ले, वहाँ तक मैं सह सकता हूँ; किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधव सिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोला—बेटा, तुम बुद्धिमान् होकर ऐसी बातें करते हो ? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं, उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकंठ—इतना मैं जानता हूँ, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गाँव में कई घर सँभल गये ; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दर्बार में उत्तर-दाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दण्ड नहीं देता।

अब बेनीमाधव सिंह भी गरमाये। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले—लालबिहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन ...

श्रीकंठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधव सिंह—स्त्री के पीछे ?

श्रीकंठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शान्त करना चाहते थे, लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने पर तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तलमलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन-ही-मन जलते थे, वे कहा करते थे—श्रीकंठ अपने बाप से दबता है ; इसलिए वह दब्बू है। उसने विद्या पढ़ी; इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधव सिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभ कामनाएँ आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया। बेनीमाधव सिंह पुराने आदमी थे। इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे कुछ ही क्यों न हो, उन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरन्त कोमल

शब्दों में बोले—बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभव-रहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग-क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या खबर? बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला—मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान् लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा करो।

श्रीकंठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे विदा कीजिए, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाय। बस, यह मेरा अन्तिम निश्चय है।

लालबिहारी सिंह दरवाजे की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले, या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब वह इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई-न-कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्होंने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्योढ़े जवान को नागपंचमी के दिन दंगल में पछाड़ दिया, तो उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जाकर उसे गले से लगा लिया था, पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने किये पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ, भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था। परन्तु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकंठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार बातें

बातें कह देते, इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता; पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से सहा न गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोंछी, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था। तब आनन्दी के द्वार पर आकर बोला—भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। अब वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते; इसलिए अब मैं जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

(४)

जिस समय लालबिहारी सिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकंठ सिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखें फेर लीं, और कतराकर निकल गये। मानों उसकी परछाहीं से दूर भागते हैं।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी; लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों होते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी। इसी बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाजे पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकंठ को देखकर आनन्दी ने कहा—लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ—तो मैं क्या करूँ?

आनन्दी—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे! मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकंठ—मैं न बुलाऊँगा।

आनन्दी—पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है, ऐसा न हो, कहीं चल दें।

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—भाभी, भैया से मेरा प्रणाम

कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते ; इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।

लालबिहारी इतना कहकर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाज़े की ओर बढ़ा। अन्त में आनन्दी कमरे से निकली, और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा और आँखों में आँसू-भरे बोला— मुझे जाने दो।

आनन्दी— कहाँ जाते हो ?

लालबिहारी— जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनन्दी— मैं न जाने दूँगी।

लालबिहारी— मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनन्दी— तुम्हें मेरी सौगन्द, अब एक पग भी आगे न बढ़ना।

लालबिहारी— जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनन्दी— मैं ईश्वर की साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूटकर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा— भैया, अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दण्ड देंगे, मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा— लल्लू, इन बातों को बिलकुल भूल जाओ। ईश्वर चाहेगा, तो फिर ऐसा अवसर न आवेगा।

बेनीमाधव सिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये। बोल उठे— बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना, उसी ने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा— 'बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।'

सत्याग्रह

हिज़ एक्सेलेंसी वायसराय बनारस आ रहे थे। सरकारी कर्मचारी, छोटे से बड़े तक, उनके स्वागत की तैयारियाँ कर रहे थे। इधर कांग्रेस ने शहर में हड़ताल मनाने की सूचना दे दी थी। इससे कर्मचारियों में बड़ी हलचल थी। एक ओर सड़कों पर झंडियाँ लगाई जा रही थीं, सफाई हो रही थी, बड़े-बड़े विशाल फाटक बनाये जा रहे थे, दफ्तरों की सजावट हो रही थी, पण्डाल बन रहा था; दूसरी ओर फ़ौज और पुलिस के सिपाही संगीनें चढ़ाये शहर की गलियों में और सड़कों पर क़वायद करते फिरते थे। कर्मचारियों की सिर-तोड़ कोशिश थी कि हड़ताल न होने पावे; मगर कांग्रेसियों की धुन थी कि हड़ताल हो और ज़रूर हो। अगर कर्मचारियों को पशु-बल का ज़ोर है, तो हमें नैतिक बल का भरोसा है। इस बार दोनों की परीक्षा हो जाय कि मैदान किसके हाथ रहता है।

घोड़े पर सवार मजिस्ट्रेट सुबह से शाम तक दूकानदारों को धमकियाँ देता फिरता कि एक-एक को जेल भेजवा दूँगा, बाजार लुटवा दूँगा, यह करूँगा, वह करूँगा! दूकानदार हाथ बाँधकर कहते—हुजूर बादशाह हैं, विधाता हैं; जो चाहें, कर सकते हैं; पर हम क्या करें? कांग्रेसवाले हमें जीता न छोड़ेंगे। हमारी दूकानों पर धरने देंगे, हमारे ऊपर बालू चढ़ावेंगे, कुएँ में गिरेंगे, उपवास करेंगे। कौन जाने दो-चार प्राण ही दे दें तो हमारे मुँह पर सदैव के लिए कालिख पुत जायगी। हुजूर उन्हीं कांग्रेसवालों को समझावें, तो हमारे ऊपर बड़ा एहसान करें। हड़ताल न करने से हमारी कुछ हानि थोड़े होगी। देश के बड़े-बड़े आदमी आवेंगे, हमारी दूकानें खुली रहेंगी, तो एक के दो लेंगे, महँगे सौदे बेचेंगे; पर करें क्या, इन शैतानों से तो कोई वश नहीं चलता।

राय हरनन्दन साहब, राजा लालचन्द और खाँ बहादुर मौलवी महमूद अली तो कर्मचारियों से भी ज्यादा बेचैन थे। मजिस्ट्रेट के साथ-साथ और अकेले भी बड़ी कोशिश करते थे। अपने मकान पर बुलाकर दूकानदारों को समझाते, अनुनय-विनय करते, आँखें दिखाते, इक्के-बग्गीवालों को धमकाते, मजदूरों की खुशामद करते; पर

कांग्रेस के मुट्ठी-भर आदमियों का कुछ ऐसा आतंक छाया हुआ था कि कोई हमारी सुनता ही न था। यहाँ तक कि पड़ोस की कुँजड़िन ने भी निर्भय होकर कह दिया— हुजूर, चाहे मार डालो; पर दुकान न खुलेगी। नाक न कटवाऊँगी। सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि कहीं पण्डाल बनानेवाले मजदूर, बढ़ई, लोहार वग़ैरह काम न छोड़ दें; नहीं तो अनर्थ ही हो जायगा। रायसाहब ने कहा— हुजूर, दूसरे शहरों से दुकानदार बुलवायें और एक बाज़ार अलग खोलें।

खाँ साहब ने फ़रमाया— वक्त इतना कम रह गया है कि दूसरा बाज़ार तैयार नहीं हो सकता। हुजूर कांग्रेसवालों को गिरफ़्तार कर लें, या उनकी जायदाद ज़ब्त कर लें। फिर देखिए, कैसे क़ाबू में नहीं आते।

राजा साहब बोले—पकड़-धकड़ से तो लोग और भी झल्लायेंगे। कांग्रेसवालों से हुजूर कहें कि तुम हड़ताल बन्द कर दो, तो सबको सरकारी नौकरी दे दी जायगी। इसमें अधिकांश बेकार लोग भरे पड़े हैं, यह प्रलोभन पाते ही फूल उठेंगे।

मगर मैजिस्ट्रेट को कोई राय न जँची। यहाँ तक कि वायसराय के आने में तीन दिन और रह गये।

(२)

आखिर राजा साहब को एक युक्ति सूझी; क्यों न हम लोग भी नैतिक बल का प्रयोग करें? आखिर कांग्रेसवाले धर्म और नीति के नाम पर ही तो यह तूफ़ान बाँधते हैं। हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण करें, शेर को उसके माँद में पछाड़ें। कोई ऐसा आदमी पैदा करना चाहिए, जो व्रत करे कि दुकानें न खुलीं, तो मैं प्राण दे दूँगा। यह ज़रूरी है कि वह ब्राह्मण हो, और ऐसा, जिसको शहर के लोग मानते हों, आदर करते हों। अन्य सहयोगियों के मन में भी यह बात बैठ गई। उछल पड़े।

राय साहब ने कहा— बस, अब पड़ाव मार लिया। अच्छा, ऐसा कौन पण्डित है? पण्डित गदाधर शर्मा?

राजा साहब—जी नहीं, उसे कौन मानता है? खाली समाचारपत्रों में लिखा करता है। शहर के लोग उसे क्या जानें?

राय साहब—दमड़ी ओझा तो है इस ढंग का?

राजा साहब—जी नहीं, कालेज के विद्यार्थियों के सिवा उसे और कौन जानता है ?

राय साहब—पण्डित मोटेराम शास्त्री !

राजा साहब—बस-बस । आपने खूब सोचा । बेशक वह है इस ढंग का । उसी को बुलाना चाहिए । विद्वान् है, धर्म-कर्म से रहता है, चतुर भी है । वह अगर हाथ में आ जाय, तो फिर पाली हमारी ।

राय साहब ने तुरन्त पण्डित मोटेराम के घर संदेशा भेजा । उस समय शास्त्रीजी पूजा पर थे । यह पैगाम सुनते ही जल्दी से पूजा समाप्त की, और चले । राजा साहब ने बुलाया है, धन्य भाग ! धर्मपत्नी से बोले—आज चन्द्रमा कुछ बली मालूम होते हैं । कपड़े लाओ, देखूँ क्यों बुलाया है ।

स्त्री ने कहा—भोजन तैयार है, करके जाओ ; न जाने कब लौटने का अवसर मिले ।

किन्तु शास्त्रीजी ने आदमी को इतनी देर खड़ा रखना उचित न समझा । जाड़े के दिन थे । हरी बनात की अचकन पहनी, जिस पर लाल शंजाफ़ लगी हुई थी । गले में एक ज़री का दुपट्टा डाला । सिर पर बनारसी साफ़ा बाँधा । लाल चौड़े किनारे की रेशमी धोती पहनी और खड़ाऊँ पर चले । उनके मुख से ब्रह्म-तेज टपकता था । दूर ही से मालूम होता था, कोई महात्मा आ रहे हैं । रास्ते में जो मिलता, सिर झुकाता । कितने ही दुकानदारों ने खड़े होकर पैलगी की । आज काशी का नाम इन्हीं की बदौलत चल रहा है ; नहीं तो और कौन रह गया है । कितना नम्र स्वभाव है । बालकों से हँसकर बातें करते हैं । इस ठाठ से पण्डितजी राजा साहब के मकान पर पहुँचे । तीनों मित्रों ने खड़े होकर उनका सम्मान किया । ख़ाँ बहादुर बोले—कहिए पण्डितजी, मिज़ाज तो अच्छे हैं ? वल्लाह, आप नुमाइश में रखने के क़ाबिल आदमी हैं । आपका वज़न दस मन से कम तो न होगा ?

राय साहब—एक मन इल्म के लिए दस मन अक्ल चाहिए । उसी क़ायदे से एक मन अक्ल के लिए दस मन का जिस्म ज़रूरी है ; नहीं तो उसका बोझ कौन उठाये ?

राजा साहब—आप लोग इसका मतलब नहीं समझते । बुद्धि एक प्रकार का नज़ला है ; जब दिमाग़ में नहीं समाती, तो जिस्म में आ जाती है ।

खाँ साहब—मैंने तो बुजुर्गों की ज़बानी सुना है कि मोटे आदमी अक्ल के दुश्मन होवे हैं।

रायसाहब—आपका हिसाब कमज़ोर था; वर्ना आपकी समझ में इतनी बात ज़रूर आती कि अक्ल और जिस्म में एक और दस की निस्बत है, तो जितना ही मोटा आदमी होगा, उतना ही उसकी अक्ल का वज़न भी ज्यादा होगा।

राजा साहब—इससे यह साबित हुआ कि जितना ही मोटा आदमी उतनी ही मोटी उसकी अक्ल।

मोटेराम—जब मोटी अक्ल की बदौलत राज-दरबार में पूछ होती है, तो मुझे पतली अक्ल लेकर क्या करना है?

हास-परिहास के बाद राजा साहब ने वर्तमान समस्या पण्डितजी के सामने उपस्थित की, और उसके निवारण का जो उपाय सोचा था वह भी प्रकट किया, बोले—बस, यह समझ लीजिए कि इस साल आपका भविष्य पूर्णतया अपने हाथों में है। शायद किसी आदमी को अपने भाग्यनिर्णय का ऐसा महत्त्व-पूर्ण अवसर न मिला होगा। हड़ताल न हुई, तो और तो कुछ नहीं कह सकते, आपको जीवन-भर किसी के दरवाजे जाने की ज़रूरत न होगी। बस, ऐसा कोई व्रत ठानिए कि शहरवाले थर्रा उठें। कांग्रेसवालों ने धर्म का अवलम्बन करके इतनी शक्ति बढ़ाई है। बस, ऐसी कोई युक्ति निकालिए कि जनता के धार्मिक भावों को चोट पहुँचे।

मोटेराम ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—यह तो कोई ऐसा कठिन काम नहीं है। मैं तो ऐसे-ऐसे अनुष्ठान कर सकता हूँ कि आकाश से जल-वर्षा करा दूँ; मरी के प्रकोप को भी शान्त कर दूँ; अन्न का भाव घटा-बढ़ा दूँ। कांग्रेसवालों को परास्त कर देना तो कोई बड़ी बात नहीं। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे महानुभाव समझते हैं कि जो काम हम कर सकते हैं, वह कोई नहीं कर सकता; पर गुप्त विद्याओं का उन्हें भी ज्ञान नहीं।

खाँ साहब—तब तो जनाब, यह कहना चाहिए कि आप दूसरे खुदा हैं। हमें क्या मालूम था कि आपमें यह कुदरत है। नहीं तो इतने दिनों तक क्यों परेशान होते?

मोटेराम—साहब, मैं गुप्त धन का पता लगा सकता हूँ, पितरों को बुला सकता

हूँ, केवल गुण-ग्राहक चाहिए। संसार में गुणियों का अभाव नहीं है, गुणज्ञों का ही अभाव है।—'गुन ना हिरानो गुनगाहक हिरानो है।'

राजा साहब—भला इस अनुष्ठान के लिए आपको क्या भेंट करना होगा?

मोटेराम—जो कुछ आपकी श्रद्धा हो।

राजा साहब—कुछ बतला सकते हैं कि यह कौन-सा अनुष्ठान होगा?

मोटेराम—अनशन-व्रत के साथ मंत्रों का जप करना होगा। सारे शहर में हलचल न मचा दूँ, तो मोटेराम नाम नहीं।

राजा साहब—तो फिर कब से?

मोटेराम—आज ही हो सकता है। हाँ, पहले देवताओं के आवाहन के निमित्त थोड़े-से रुपये दिला दीजिए।

रुपये की कमी ही क्या थी। पण्डितजी को रुपये मिल गये और वह खुश-खुश घर आये। धर्मपत्नी से सारा समाचार कहा। उसने चिंतित होकर कहा—तुमने नाहक यह रोग अपने सिर लिया? भूख न बरदाश्त हुई, तो? सारे शहर में भद हो जायगी, लोग हँसी उड़ावेंगे। रुपये लौटा दो।

मोटेराम ने आश्वासन देते हुए कहा—भूख कैसे न बरदाश्त होगी? मैं ऐसा मूर्ख थोड़े ही हूँ कि यों ही आ बैठूँगा? पहले मेरे भोजन का प्रबन्ध करो। इमर्तियाँ, लड्डू, रसगुल्ले मँगाओ। पेट-भर भोजन कर लूँ, फिर आध सेर मलाई खाऊँगा, उसके ऊपर आध सेर बादाम की तह जमाऊँगा। बची-खुची कसर मलाईवाले दही से पूरी कर दूँगा। फिर देखूँगा, भूख क्योंकर पास फटकती है! तीन दिन तक तो साँस ही न ली जायगी, भूख की कौन चलावे। इतने में तो सारे शहर में खलबली मच जायगी। भाग्य का सूर्य उदय हुआ है, इस समय आगा-पीछा करने से पछताना पड़ेगा। बाजार न बन्द हुआ, तो समझ लो, मालामाल हो जाऊँगा। नहीं तो यहाँ गाँठ से क्या जाता है? सौ रुपये तो हाथ लग ही गये।

इधर तो भोजन का प्रबन्ध हुआ, उधर पण्डित मोटेराम ने डौंडी पिटवा दी कि संध्या समय टाउन-हाल के मैदान में पण्डित मोटेराम देश की राजनीतिक समस्या पर व्याख्यान देंगे, लोग अवश्य आवें। पण्डितजी सदैव राजनीतिक विषयों से अलग रहते थे। आज वह इस विषय पर कुछ बोलेंगे, सुनना चाहिए। लोगों को उत्सुकता हुई। पण्डितजी का शहर में बड़ा मान था। नियत समय पर कई हजार आदमियों की

भीड़ लग गई। पण्डितजी घर से अच्छी तरह तैयार होकर पहुँचे। पेट इतना ब[illegible] हुआ था कि चलना कठिन था। ज्यों ही वह वहाँ पहुँचे, दर्शकों ने खड़े हो[कर] उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया।

मोटेराम बोले—नगरवासियो, व्यापारियो, सेठो और महाजनो! मैंने सुना [है,] तुम लोगों ने कांग्रेसवालों के कहने में आकर बड़े लाट साहब के शुभागमन के अ[व]सर पर हड़ताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है! वह चा[हें] तो आज तुम लोगों को तोप के मुँह पर उड़वा दें, सारे शहर को खुदवा डालें। रा[जा] हैं, हँसी-ठट्ठा नहीं। वह तरह देते जाते हैं, तुम्हारी दीनता पर दया करते हैं, [और] तुम गऊओं की तरह हत्या के बल खेत चरने को तैयार हो? लाट साहब चाहें, [तो] आज रेल बन्द कर दें, डाक बन्द कर दें, माल का आना-जाना बन्द कर दें। [तब] बताओ, क्या करोगे? वह चाहें, तो आज सारे शहरवालों को जेल में डाल दें; बताओ, क्या करोगे? तुम उनसे भागकर कहाँ जा सकते हो? है कहीं का ठिका[ना?] इसलिए जब इसी देश में और उन्हीं के अधीन रहना है, तो इतना उपद्रव क[्यों] मचाते हो? याद रखो, तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी में है। ताऊन के कीड़े फैला दें तो सारे नगर में हाहाकार मच जाय। तुम झाड़ू से आँधी को रोकने चले हो? खबरदार, जो किसी ने बाजार बन्द किया; नहीं तो कहे देता हूँ, यहीं अन्न-ज[ल] बिना प्राण दे दूँगा।

एक आदमी ने शंका की—महाराज, आपके प्राण निकलते-निकलते महीने-[भर] से कम न लगेगा। तीन दिन में क्या होगा?

मोटेराम ने गरजकर कहा—प्राण शरीर में नहीं रहता, ब्रह्माण्ड में रहता है। मैं चाहूँ, तो योग-बल से प्राण-त्याग कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें चेतावनी दे दी, अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मेरा कहना मानोगे, तो तुम्हारा कल्याण हो[गा।] न मानोगे, तो हत्या लगेगी, संसार में कहीं मुँह न दिखा सकोगे। बस, यह लो; यहीं आसन जमाता हूँ।

(२)

शहर में यह समाचार फैला, तो लोगों के होश उड़ गये। अधिकारियों की [इस] नई चाल ने उन्हें हतबुद्धि-सा कर दिया। कांग्रेस के कर्मचारी तो अब भी क[हते] थे—यह सब पाखण्ड है। राजभक्तों ने पण्डित को कुछ दे-दिलाकर यह स्वाँग [रचाया है।]

किया है। जब और कोई वश न चला, फ़ौज, पुलिस, कानून, सभी युक्तियों से हार गये, तो यह नई माया रची है। यह और कुछ नहीं, राजनीति का दिवाला है। नहीं तो पण्डितजी ऐसे कहाँ के देश-सेवक थे, जो देश की दशा से दुःखी होकर व्रत ठानते। इन्हें भूखों मरने दो, दो दिन में चें बोल जायंगे। इस नई चाल की जड़ अभी से काट देनी चाहिए। कहीं यह चाल सफल हो गई, तो समझ लो, अधिकारियों के हाथ में एक नया शस्त्र आ जायगा, और वह सदैव इसका प्रयोग करेंगे। जनता इतनी समझदार तो है नहीं कि इन रहस्यों को समझे। गीदड़-भभकी में आ जायगी।

लेकिन नगर के बनिये-महाजन, जो प्रायः धर्म-भीरु होते, ऐसे घबरा गये कि उन पर इन बातों का कुछ असर ही न होता था। वे कहते थे—साहब, आप लोगों के कहने से सरकार से बुरे बने। नुक़सान उठाने को तैयार हुए। रोज़गार छोड़ा। कितनों के दिवाले हो गये, अफ़सरों को मुँह दिखाने लायक नहीं रहे। पहले जहाँ जाते थे, अधिकारी लोग 'आइए सेठजी' कहकर सम्मान करते थे, अब रेलगाड़ियों में धक्के खाते हैं; पर कोई नहीं सुनता। आमदनी चाहे कुछ हो या नहीं, बहियों का तौल देखकर कर (टैक्स) बढ़ा दिया जाता है। यह सब सहा और सहेंगे; लेकिन धर्म के मामले में हम आप लोगों का नेतृत्व नहीं स्वीकार कर सकते। जब एक विद्वान्, कुलीन, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण हमारे ऊपर अन्न-जल-त्याग कर रहा है, तब हम क्योंकर भोजन करके टाँगें फैलाकर सोवें? कहीं मर गया, तो भगवान् के सामने क्या जवाब देंगे?

सारांश यह कि कांग्रेसवालों की एक न चली। व्यापारियों का एक डेपुटेशन नव बजे रात को पण्डितजी की सेवा में उपस्थित हुआ। पण्डितजी ने आज भोजन तो खूब डटकर किया था; लेकिन भोजन डटकर करना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। महीने में प्रायः बीस दिन वह अवश्य ही न्योता पाते थे, और निमन्त्रण में डटकर भोजन करना एक स्वाभाविक बात है। अपने सहभोजियों को देखा, लाग-डाट की धुन में या गृह-स्वामी के सविनय आग्रह से और सबसे बढ़कर पदार्थों की उत्कृष्टता के कारण, भोजन मात्रा से अधिक हो ही जाता है। पण्डितजी की जठराग्नि ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती रहती थी, अतएव इस समय भोजन का समय आ जाने से उनकी नीयत कुछ डावाँ-डोल हो रही थी। यह बात नहीं कि वह भूख से व्याकुल थे; लेकिन भोजन का समय आ जाने पर अगर पेट अफरा हुआ न हो,

अजीर्ण न हो गया हो, तो मन में एक प्रकार की भोजन की चाह होने लगती है। शास्त्रीजी की इस समय यही दशा हो रही थी। जी चाहता था; किसी खोंचेवाले को पुकारकर कुछ ले लेते; किन्तु अधिकारियों ने उनकी शरीर-रक्षा के लिए वहाँ कई सिपाहियों को तैनात कर दिया था। वे सब हटने का नाम न लेते थे। पण्डितजी की विशाल बुद्धि इस समय यही समस्या हल कर रही थी कि इन यमदूतों को कैसे टालूँ? खामखाह इन पाजियों को यहाँ खड़ा कर दिया! मैं कोई कैदी तो हूँ नहीं कि भाग जाऊँगा।

अधिकारियों ने शायद यह व्यवस्था इसलिए कर रखी थी कि कांग्रेसवाले जबरदस्ती पण्डितजी को वहाँ से भगाने की चेष्टा न कर सकें। कौन जाने, वे क्या चाल चलें। कहीं किसी कुत्ते ही को उन पर छोड़ दें, या दूर से पत्थर फेंकने लगें। ऐसे अनुचित और अपमानजनक व्यवहारों से पण्डितजी को रक्षा करना अधिकारियों का कर्तव्य था।

वह अभी इसी चिन्ता में थे कि व्यापारियों का डेपुटेशन आ पहुँचा। पण्डितजी कुहनियों के बल लेटे हुए थे, सँभल बैठे। नेताओं ने उनके चरण छूकर कहा— महाराज, हमारे ऊपर आपने क्यों यह कोप किया है? आपको जो आज्ञा हो, वह हम शिरोधार्य करें। आप उठिए, अन्न-जल ग्रहण कीजिए। हमें नहीं मालूम था कि आप सचमुच यह व्रत ठाननेवाले हैं, नहीं तो हम पहले ही आपसे बिनती करते। अब कृपा कीजिए, दस बजने का समय है। हम आपका वचन कभी न टालेंगे।

मोटे०—ये कांग्रेसवाले तुम्हें मटिया-मेट करके छोड़ेंगे। आप तो डूबते ही हैं तुम्हें भी अपने साथ ले डूबेंगे। बाज़ार बन्द रहेगा, तो इससे तुम्हारा ही टोटा होगा, सरकार को क्या? तुम नौकरी छोड़ दोगे, आप भूखों मरोगे; सरकार को क्या? तुम जेल जाओगे, आप चक्की पीसोगे, सरकार को क्या? न जाने इन सबको क्या सनक सवार हो गई है कि अपनी नाक कटाकर दूसरों का असगुन मनाते हैं। तुम इन कुपंथियों के कहने में न आओ। क्यों, दूकानें खुली रखोगे?

सेठ— महाराज, जब तक शहर-भर के आदमियों की पंचायत न हो जाय, तब तक हम इसका बीमा कैसे ले सकते हैं? कांग्रेसवालों ने कहीं लूट मचवा दी, तो कौन हमारी मदद करेगा? आप उठिए, भोजन पाइए, हम कल पंचायत करके आपकी सेवा में जैसा कुछ होगा, हाल देंगे।

मोटे०—तो फिर पंचायत करके आना।

डेपुटेशन जब निराश होकर लौटने लगा, तो पण्डितजी ने कहा—किसी के पास सुँघनी तो नहीं है?

एक महाशय ने डिबिया निकालकर दे दी।

(४)

लोगों के जाने के बाद मोटेराम ने पुलीसवालों से पूछा—तुम यहाँ क्यों खड़े हो?

सिपाहियों ने कहा—साहब का हुक्म है, क्या करें?

मोटे०— यहाँ से चले जाओ।

सिपाही—आपके कहने से चले जायँ? कल नौकरी छूट जायगी, तो आप खाने को देंगे?

मोटे०—हम कहते हैं, चले जाओ, नहीं तो हम ही यहाँ से चले जायँगे। हम कोई कैदी नहीं हैं, जो तुम घेरे खड़े हो।

सिपाही—चले क्या जाइएगा, मजाल है!

मोटे०—मजाल क्यों नहीं है बे! कोई जुर्म किया है?

सिपाही—अच्छा जाओ तो, देखें!

पण्डितजी ब्रह्म-तेज में आकर उठे और एक सिपाही को इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि वह कई क़दम पर जा गिरा। दूसरे सिपाहियों की हिम्मत छूट गई। पण्डितजी को उन सबने थल-थल समझ लिया था, उनका पराक्रम देखा, तो चुपके से सटक गये।

मोटेराम अब लगे इधर-उधर नजरें दौड़ाने कि कोई खोंचेवाला नजर आ जाय, तो उससे कुछ लें, किन्तु तुरन्त ध्यान आ गया, कहीं उसने किसी से कह दिया, तो लोग तालियाँ बजाने लगेंगे। नहीं, ऐसी चतुराई से काम करना चाहिए कि किसी को कानोकान खबर न हो। ऐसे ही संकटों में तो बुद्धि-बल का परिचय मिलता है। एक क्षण में उन्होंने इस कठिन प्रश्न को हल कर लिया।

दैवयोग से उसी समय एक खोंचेवाला आता दिखाई दिया। ग्यारह बज चुके थे। चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया था। पण्डितजी ने बुलाया—खोंचेवाले, ओ खोंचेवाले!

खोंचेवाला—कहिए, क्या दूँ ? भूख लग आई न ! अन्न-जल छोड़ना साधुओं का काम है, हमारा-आपका काम नहीं है।

पण्डित—अबे, क्या बकता है ! यहाँ किसी साधू से कम हैं ! चाहें, तो महीनों पड़े रहें, और भूख-प्यास न लगे। तुझे तो केवल इसलिए बुलाया है कि ज़रा अपनी कुप्पी मुझे दे। देखूँ तो, वहाँ क्या रेंग रहा है। मुझे भय होता है, कहीं साँप न हो।

खोंचेवाले ने कुप्पी उतारकर दे दी। पण्डितजी उसे लेकर इधर-उधर ज़मीन पर कुछ खोजने लगे। इतने में कुप्पी उनके हाथ से छूटकर गिर पड़ी और बुझ गई। सारा तेल बह गया। पण्डितजी ने उसमें एक ठोकर और लगाई कि बचा-खुचा तेल भी बह जाय।

खोंचेवाला—(कुप्पी को हिलाकर) महाराज, इसमें तो ज़रा भी तेल नहीं बचा। अब तक चार पैसे का सौदा बेचता, आपने यह खटराग बढ़ा दिया।

पण्डित—भैया, हाथ ही तो है, छूट गिरी, तो अब क्या हाथ काट डालूँ ! यह लो पैसे, जाकर कहीं से तेल भरा लाओ।

खोंचेवाला—(पैसे लेकर) तो अब तेल भराकर मैं यहाँ थोड़े ही आऊँगा।

पण्डित—खोंचा रखे जाओ, लपककर थोड़ा तेल ले लो ; नहीं मुझे कोई साँप काट लेगा, तो तुम्हीं पर हत्या पड़ेगी। कोई जानवर है ज़रूर। देखो, वह रेंगता है। गायब हो गया। दौड़ जाओ पट्ठे, तेल लेते आओ, मैं तुम्हारा खोंचा देखता रहूँगा। डरते हो, तो अपने रुपये-पैसे लेते जाओ।

खोंचेवाला बड़े धर्म-संकट में पड़ा। खोंचे से पैसे निकालता है, तो भय है कि पण्डितजी अपने दिल में बुरा मानें, कि मुझे बेईमान समझ रहा है। छोड़कर जाता है, तो कौन जाने, इनकी नीयत क्या हो। किसी की नीयत सदा ठीक नहीं रहती। अन्त को उसने यही निश्चय किया कि खोंचा यहीं छोड़ दूँ, जो कुछ तक़दीर में होगा, वह होगा। वह उधर बाज़ार की तरफ़ चला, इधर पण्डितजी ने खोंचे पर निगाह दौड़ाई, तो बहुत हताश हुए। मिठाई बहुत कम बच रही थी। पाँच-छः चीजें थीं, मगर किसी में दो अदद से ज्यादा निकालने की गुंजाइश न थी। भंडा फूट जाने का खटका था। पण्डितजी ने सोचा, इतने से क्या होगा ? केवल क्षुधा और प्रबल हो जायगी, शेर के मुँह खून लग जायगा। गुनाह बेलज्जत है। अपनी

जगह पर आ बैठे, लेकिन दम-भर के बाद प्यास ने फिर ज़ोर किया। सोचे, कुछ तो ढारस हो ही जायगा। आहार कितना ही सूक्ष्म हो, फिर भी आहार ही है। उठे, मिठाई निकाली, पर पहला ही लड्डू मुँह में रखा था कि देखा, खोंचेवाला तेल की कुप्पी जलाये क़दम बढ़ाता चला आ रहा है। उसके पहुँचने के पहले मिठाई का समाप्त हो जाना अनिवार्य था। एक साथ दो चीजें मुँह में रखों। अभी चबला ही रहे थे कि वह निशाचर दस क़दम और आगे बढ़ आया। एक साथ चार चीजें मुँह में डालीं और अधकुचली ही निगल गये। अभी छः अदतें और थीं, और खोंचेवाला फाटक तक आ चुका था। सारी-की-सारी मिठाई मुँह में डाल ली। अब न चबाते बनता है, न उगलते! वह शैतान मोटरकार की तरह कुप्पी चमकाता हुआ चला ही आता था। जब वह बिलकुल सामने आ गया, तो पण्डितजी ने जल्दी से सारी मिठाई निगल ली; मगर आख़िर आदमी ही थे, कोई मगर तो थे नहीं, आँखों में पानी भर आया, गला फँस गया, शरीर में रोमांच हो आया, ज़ोर से खाँसने लगे। खोंचे-वाले ने तेल की कुप्पी बढ़ाते हुए कहा—यह लीजिए, देख लीजिए, चले तो हैं आप उपवास करने, पर प्राणों का इतना डर है। आपको क्या चिन्ता, प्राण भी निकल जायँगे, तो सरकार बाल-बच्चों की परवस्ती करेगी।

पण्डितजी को क्रोध तो ऐसा आया कि इस पाजी को खोटी-खरी सुनाऊँ, लेकिन गले से आवाज़ न निकली। कुप्पी चुपके से ले ली और झूठ-मूठ इधर-उधर देखकर लौटा दी।

खोंचावाला—आपको क्या पड़ी थी, जो चले सरकार का पच्छ करने? कहीं कल दिन-भर पंचायत होगी, तो रात तक कुछ तय होगा। तब तक तो आपकी आँखों में तितलियाँ उड़ने लगेंगी।

यह कहकर वह चला गया और पण्डितजी भी थोड़ी देर तक खाँसने के बाद सो रहे।

(५)

दूसरे दिन सवेरे ही से व्यापारियों ने मिस्कौट करनी शुरू की। उधर कांग्रेस-वालों में भी हलचल मची। अमन-सभा के अधिकारियों ने भी कान खड़े किये। यह तो इन भोले-भाले बनियों को धमकाने की अच्छी तरकीब हाथ आई। पण्डित-समाज ने अलग एक सभा की और उसमें यह निश्चय किया कि पण्डित मोटेराम को राज

नीतिक मामलों में पड़ने का कोई अधिकार नहीं है। हमारा राजनीति से क्या संबन्ध है? गरज़ सारा दिन इसी वाद-विवाद में कट गया और किसी ने पण्डितजी की ख़बर न ली। लोग खुल्लम-खुल्ला कहते थे कि पण्डितजी ने एक हज़ार रुपये सरकार से लेकर यह अनुष्ठान किया है। बेचारे पण्डितजी ने रात तो लोट-पोटकर काटी; प्रातः उठे तो शरीर मुरदा-सा जान पड़ता था, खड़े होते थे, तो आँखें तिलमिलाने लगती थीं, सिर में चक्कर आ जाता था। पेट में जैसे कोई बैठा हुआ कुरेद रहा हो। सड़क की तरफ़ आँखें लगी हुई थीं कि कोग मनाने तो नहीं आ रहे हैं। संध्योपासन का समय इसी प्रतीक्षा में कट गया। इस समय पूजन के पश्चात् नित्य नाश्ता किया करते थे। आज अभी मुँह में पानी भी न गया था। न जाने वह शुभ-घड़ी कब आयेगी। फिर पण्डिताइन पर क्रोध आने लगा। आप तो रात को भर पेट खाकर सोई होंगी, इस वक्त भी जलपान कर चुकी होंगी; पर इधर भूलकर भी न झाँका कि मरे र जीते हैं। कुछ बात करने ही के बहाने से क्या थोड़ा-सा मोहन-भोग बनाकर न ला सकती थीं? पर किसे इतनी चिंता है? रुपये लेकर रख लिये, फिर जो कुछ मिलेगा, वह भी रख लेंगी। मुझे अच्छा उल्लू बनाया!

क़िस्सा-कोताह पण्डितजी ने दिन-भर इन्तज़ार किया; पर कोई मनानेवाला न आया। लोगों के दिल में जो यह सन्देह पैदा हुआ था कि पण्डितजी ने कुछ लेकर यह स्वांग रचा है, स्वार्थ के वशीभूत होकर यह पाखण्ड खड़ा किया है, वही उन्हें मनाने में बाधक होता था।

(६)

रात के नौ बज चुके थे। सेठ भौंदूमल ने, जो व्यापारी-समाज के नेता थे, निश्चयात्मक भाव से कहा—मान लिया, पण्डितजी ने स्वार्थ-वश ही यह अनुष्ठान किया है, पर इससे तो वह कष्ट कम नहीं हो सकता, जो अन्न-जल के बिना प्राणी-मात्र को होता है। यह धर्म-विरुद्ध है कि एक ब्राह्मण हमारे ऊपर दाना-पानी त्याग दे, और हम पेट भर-भरकर चैन की नींद सोवें। अगर उन्होंने धर्म के विरुद्ध आचरण किया है, तो उसका दण्ड उन्हें भोगना पड़ेगा। हम क्यों अपने कर्तव्य से मुँह फेरें!

कांग्रेस के मंत्री ने दबी हुई आवाज़ से कहा—मुझे तो जो कुछ कहना था, वह मैं कह चुका। आप लोग समाज के नेता हैं, जो फ़ैसला कीजिए, इसमें मंजूर है। चलिए, मैं भी आपके साथ चला चलूँगा। धर्म का कुछ अंश मुझे भी मिल जायगा।

पर एक विनती सुन लीजिए। आप लोग पहले मुझे वहाँ जाने दीजिए। मैं एकान्त में उनसे दस मिनट बातें करना चाहता हूँ। आप लोग फाटक पर खड़े रहिएगा। जब मैं वहाँ से लौट आऊँ, तो फिर जाइएगा। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी? प्रार्थना स्वीकृत हो गई।

मंत्रीजी पुलिस-विभाग में बहुत दिनों तक रह चुके थे, मानव-चरित्र की कमजोरियों को जानते थे। वह सीधे बाज़ार गये और पाँच रुपये की मिठाई ली। उसमें मात्रा से अधिक सुगन्ध डालने का प्रयत्न किया, चाँदी के वरक़ लगवाये और एक दोना में लेकर रूठे हुए ब्रह्मदेव की पूजा करने चले। एक झंझर में ठण्डा पानी लिया और उसमें केवड़े का जल मिलाया। दोनों ही चीज़ों से खुशबू की लपटें उड़ रही थीं। सुगन्ध में कितनी उत्तेजक शक्ति है, कौन नहीं जानता। इससे बिना भूख-की-भूख लग जाती है, भूखे आदमी की तो बात ही क्या?

पण्डितजी इस समय भूमि पर अचेत पड़े हुए थे। रात को कुछ नहीं मिला। दस-पाँच छोटी-मोटी मिठाइयों का क्या ज़िक्र। दोपहर को कुछ नहीं मिला और इस वक्त भी भोजन की वेला टल गई थी। भूख में अब आशा की व्याकुलता नहीं, निराशा की शिथिलता थी। सारे अङ्ग ढीले पड़ गये थे। यहाँ तक की आँखें भी न खुलती थीं। उन्हें खोलने की बार-बार चेष्टा करते; पर वे आप-ही-आप बंद हो जातीं। ओठ सूख गये थे। जिन्दगी का कोई चिह्न था, तो बस, उनका धीरे-धीरे कराहना। ऐसा घोर संकट उनके ऊपर कभी न पड़ा था। अजीर्ण की शिकायत तो उन्हें महीने में दो-चार बार हो जाती थी, जिसे वह हड़ आदि की फंकियों से शान्त कर लिया करते थे; पर अजीर्णावस्था में ऐसा कभी न हुआ था, कि उन्होंने भोजन छोड़ दिया हो। नगरवासियों को, अमन-सभा को, सरकार को, ईश्वर को, कांग्रेस और धर्म-पत्नी को जी भरकर कोस चुके थे। किसी से कोई आशा न थी। अब इतनी शक्ति भी न रही थी, कि स्वयं खड़े होकर बाज़ार जा सकें। निश्चय हो गया था, कि आज रात को अवश्य प्राण-पखेरू उड़ जायँगे। जीवन-सूत्र कोई रस्सी तो है नहीं, कि चाहे जितने झटके दो टूटने का नाम न ले।

मंत्रीजी ने पुकारा —'शास्त्रीजी?' मोटेराम ने पड़े-पड़े आँखें खोल दीं, उनमें ऐसी करुण-वेदना भरी हुई, जैसे किसी बालक के हाथ से कौआ मिठाई छीन ले गया हो।

मंत्रीजी ने दोने की मिठाई सामने रख दी, और ऊपर पर कुल्हड़ औंधा दिया। इस काम से कुचित होकर बोले—यहाँ कब तक पड़े रहिएगा ?

सुगन्ध ने पण्डितजी की इन्द्रियों पर संजीवनी का काम किया। पण्डितजी उठ बैठे, और बोले—देखें कब तक निश्चय होता है।

मन्त्री—यहाँ कुछ निश्चय-विश्चय न होगा। आज दिन-भर पंचायत हुआ की, कुछ तय न हुआ। कल कहीं शाम को लाट साहब आवेंगे। तब तक तो आपकी न जाने क्या दशा होगी। आपका चेहरा बिलकुल पीला पड़ गया है।

मोटे०—यहीं मरना बदा होगा तो कौन टाल सकता है ? इस दोने में कलाकंद है क्या ?

मन्त्री—हाँ, तरह-तरह की मिठाइयाँ हैं। एक नातेदार के यहाँ बैना भेजने के लिए विशेष रीति से बनवाई हैं।

मोटे०—अभी इनमें इतनी सुगन्ध है, जरा खोलिए तो !

मन्त्री ने मुस्किराकर दोना खोल दिया और पण्डितजी नेत्रों से मिठाइयाँ खाने लगे। अन्धा आँखें पाकर भी संसार को ऐसे तृष्णा-पूर्ण नेत्रों से न देखेगा। मुँह में पानी भर आया। मंत्रीजी ने कहा—आपका व्रत न होता, तो दो-चार मिठाइयाँ आपको चखाता। पाँच रुपये सेर के दाम दिये हैं।

मोटे०—तब तो बहुत ही श्रेष्ठ होंगी। मैंने बहुत दिन हुए, कलाकंद नहीं खाया।

मन्त्री—आपने भी तो बैठे बिठाये झंझट मोल ले लिया। प्राण ही न रहेंगे तो धन किस काम आवेगा !

मोटे—क्या करूँ, फँस गया। मैं इतनी मिठाइयों का जलपान कर जाता था। (हाथ से मिठाइयों को टटोलकर) भोला की दुकान की होंगी।

मन्त्री—चखिए दो-चार।

मोटे०—क्या चखूँ, धर्म-संकट में पड़ा हूँ।

मन्त्री—अजी चखिए भी। इस समय जो आनन्द प्राप्त होगा, वह लाख रुपये में भी नहीं मिल सकता। कोई किसी से कहने जाता है क्या ?

मोटे०—मुझे भय किसका है ? मैं यहाँ दाना-पानी बिना मर रहा हूँ, किसी को पर्वा ही नहीं। तो फिर मुझे क्या डर ? लाओ इधर दोना बढ़ाओ

जाओ सबसे कह देना शास्त्रीजी ने व्रत तोड़ दिया। भाड़ में जाय बाज़ार और व्यापार! यहाँ किसी की चिन्ता नहीं। जब किसी में धर्म नहीं रहा, तो मैंने ही धर्म का ठीका थोड़े उठाया है।

यह कहकर पण्डितजी ने दोना अपनी तरफ़ खींच लिया और लगे बढ़-बढ़कर हाथ मारने। यहाँ तक कि एक पल में आधा दोना समाप्त हो गया। सेठ लोग आकर फाटक पर खड़े थे। मन्त्री ने जाकर कहा—ज़रा चलकर तमाशा देखिए। आप लोगों को न बाज़ार खोलना पड़ेगा, न ख़ुशामद करनी पड़ेगी। मैंने सारी समस्याएँ हल कर दीं। यह कांग्रेस का प्रताप है।

चाँदनी छिटकी हुई थी। लोगों ने आकर देखा: पण्डितजी मिठाई ठिकाने लगाने में वैसे ही तन्मय हो रहे हैं, जैसे कोई महात्मा समाधि में मग्न हो।

भोदूमल ने कहा—पण्डितजी के चरण छूता हूँ। हम लोग तो आ ही रहे थे, आपने क्यों जल्दी की? ऐसी जुगत बताते कि आपकी प्रतिज्ञा भी न टूटती और कार्य भी सिद्ध हो जाता।

मोटे०—मेरा काम सिद्ध हो गया। यह अलौकिक आनन्द है, जो धन के ढेर से नहीं प्राप्त हो सकता। अगर कुछ श्रद्धा हो, तो इसी दुकान की इतनी ही मिठाई और मँगवा दो।*

———

*हम यह कहना भूल गये कि मंत्रीजी को मिठाई लेकर मैदान में आते समय पुलिस के सिपाही को चार आने देने पड़े थे। यह नियम-विरुद्ध था; लेकिन मंत्रीजी ने इस बात पर [illegible] उचित न समझा।—लेखक

गृह-दाह

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपये खर्च किये थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता, एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता; दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था। गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख चन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश स्त्री को लेकर गंगा-स्नान करने गये। नदी खूब चढ़ी हुई थी, मानों अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी निर्मला जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियों से छींटें उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अब निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ।

देवप्रकाश—और, जो कहीं पैर फिसल जाय!

निर्मला—पैर क्यों फिसलेगा!

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना, किन्तु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं—मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया, और फिसल गई। मुँह से एक चीख निकली; दोनों हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे, और फिर जल-मग्न हो गये। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोंछ रहे थे। तुरन्त पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला; पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवाई गई। मल्लाहों ने बार-बार गोते मारे, पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक

लुटे हुए घर आये। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा से दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया, और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्माँ कहाँ हैं?

देव०—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा, और आशय समझ गया—अम्माँ, अम्माँ कहकर रोने लगा।

(२)

मातृ-हीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृ-हीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एक-मात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकान्त से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गये। पिता की आँखों में वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गये। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई माता आनेवाली है। दौड़ा हुआ पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नई माता आवेंगी? पिता ने कहा—हाँ, बेटा वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।

सत्य०—क्या मेरी माँ स्वर्ग से आ जायँगी?

देव०—हाँ, वही आ जायँगी।

सत्य—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्नमन रहने लगा। अम्माँ आवेंगी! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी! अब मैं उन्हें कभी दिक न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आये। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश खुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्माँ आवेंगी। बारात में वह भी गया। नये-नये कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अन्दर बुलाया और उसे गोद में लेकर एक अशरफी दी,

वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—बेटी, कैसा सुन्दर बालक है। इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा, और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनों हाथों से उसका अञ्चल पकड़कर कहा—'अम्माँ!'

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जा युक्त, कितना अप्रिय! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से संबोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवनकाल की मदमय वायु तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्माँ मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा गईं। नानी ने कहा—बेटी, देखो लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्माँ कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्माँ न कहे।

(२)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पण्डित ने नहीं किया। हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई थी, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनती; किन्तु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसवकाल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश खूब उछला-कूदा और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा। सहसा देवप्रिया ने सरोष-स्वर में कहा—खबरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।

बालक उलटे पाँव लौट आया और कोठे की छत पर जाकर खूब रोया। कितना सुन्दर बच्चा है! मैं उसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता! मैं उसे गिरा

थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया ? भोला बालक क्या जानता था, कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रखा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा, कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं; केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डाँटा—'हट जा वहाँ से।'

सत्यप्रकाश दीन-नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

संध्या-समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो ?

सत्य०—मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्माँ खेलाने को नहीं देतीं।

देव०—झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी !

सत्य०—जी नहीं, मैं तो उसको मुच्छियाँ ले रहा था।

देव०—झूठ बोलता है !

सत्य०—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाये। पहली बार यह ताड़ना मिली और निरपराध ! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता; पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता, न कुछ माँगता न कुछ बोलता। पहले अत्यंत कुशाग्रबुद्धि था। उसकी सफाई, और सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था ! बाजार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौए लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति गायब हो गई। देवप्रकाश को अब आये-दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा। यहाँ

तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता तो सब लोग दूर-दूर कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुँख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साये से भी बचाती रहती थी। दोनों लड़कों में कितना अंतर था! एक साफ़-सुथरा, सुन्दर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला सच बोलनेवाला। देखनेवालों के मुँह से अनायास दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाये हुए, मुँह-फट बात बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौदा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित। दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लवहीन नव वृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती, दूसरे को देख-कर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था, कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेशमात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य-भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है; प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी माँ से वाद-विवाद कर बैठता। कहता, भैया की अचकन फट गई है; आप नई अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं? माँ उत्तर देती— उसके लिए वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था, कि अपने जेबख़र्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे; पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शान्तिमय आनन्द का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिए वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिए उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तुम आज-कल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रखा है, कि मैंने तुम्हारी ज़िन्दगी-भर का ठेका ले रखा है?

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपये हो गये हैं। जाता हूँ, तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।

देव०—फ़ीस क्यों बाक़ी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?

सत्य०—आये-दिन चंदे लगा करते हैं। फ़ीस के रुपये चंदे में दे दिये।

देव०—और जुर्माना क्यों हुआ?

सत्य०—फ़ीस न देने के कारण।

देव०—तुमने चंदा क्यों दिया?

सत्य०—ज्ञानू ने चंदा दिया, तो मैंने भी दिया।

देव०—तुम ज्ञानू से जलते हो?

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा? यहाँ हम और वह दो हैं, बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।

देव०—क्यों, यह कहते शर्म आती है?

सत्य०—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देव०—अच्छा तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं। यह क्यों नहीं कहते, कि पढ़ना अब मंजूर नहीं है। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ; ऊपर से तुम्हारे ख़र्च के लिए भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञानबाबू तुमसे कितना छोटा है; लेकिन तुमसे एक ही दर्जा नीचा है। तुम इस साल ज़रूर ही फ़ेल होगे; वह ज़रूर ही पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह कालिख लगेगी न?

सत्य०—विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।

देव०—तुम्हारे भाग्य में क्या है?

सत्य—भीख माँगना।

देव०—तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ। देवप्रिया भी आ गईं। बोली—शरमाता तो नहीं और बातों का जवाब देता है।

सत्य०—जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है; वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।

देवप्रिया—ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं ख़ून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ;

देवप्रकाश—बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगे।

(५)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब सोलह साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गये थे, उस बन्धन में क्यों रहता! आत्माभिमान आशा की भाँति चिरंजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे; दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बगल में दबाई; एक छोटा-सा बेग हाथ में लिया और चाहता था, कि चुपके से बैठके से निकल जाय, कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देख बोला—कहाँ जाते हो भैया?

सत्य०—जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञानू—मैं जाकर अम्माँ से कहे देता हूँ।

सत्य०—तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञानू—क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता; लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है, वहाँ, पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा; किस लायक़ हूँ?

ज्ञानू—तुमसे अम्माँ क्यों इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं!

सत्य०—मेरे नसीब खोटे हैं और क्या।

ज्ञानू—तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते?

सत्य०—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ उँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से!

ज्ञानू—मुझे भूल तो नहीं जाओगे? मैं तुम्हारे पास खत लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्य०—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञानू—(रोते रोते) मुझे न जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।

सत्य०—मैं तुम्हें सदैव याद रखूँगा।

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा के किले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था, कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बेग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है और सरल भी। सरल है उनके लिए, जो हाथ से काम कर सकते हैं, कठिन है उनके लिए जो कलम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मजदूरी करना नीच काम समझता था, उसने धर्मशाला में असबाब रखा, बाद को शहर के मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाक-घर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मजदूरों की चिट्ठियाँ, मनीआर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने पैसे न मिले, कि पेट-भर भोजन करता, लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मजदूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता, कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो, तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक उन रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तान्त कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मजदूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे एक रुपया रोज़ मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर पाँच रुपये महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली, एक वक्त बनाता, दोनों वक्त खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। ज़मीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर सन्तुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेमयुक्त बातें न

भूलतीं। अंधकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अन्तिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिन्त होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनन्द की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वह तृप्ति उस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिन्ता हुई कि ज्ञानू के लिए कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी भंग, शराब कबाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक भी पैदा हुआ, जो कुछ पाता उड़ा देता; बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिये। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा सूखा करने लगा। धन-संचय की चिंता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से कम चालीस रुपया होगा; अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा खुश होगा। अम्माँ और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा, कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफ़ायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सवेरे काम करने चला जाता, और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास पचास रुपये एकत्र हो गये; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानों किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जागृत कर देता है। यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में घर माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है ; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल बच्चों के प्रेम की यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है। उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का घर कहाँ था ? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी ?—माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता।—नहीं उसका रक्षक, उद्धारक उसका परितोषिक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफ़ायत करता—उसी के लिए वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नये-नये उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है ; इसलिए अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रति मास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गये। रसिक मित्रों ने जब देखा, कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(८)

संध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के संबंध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब सत्रह वर्ष का सुन्दर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ-मुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय पाँच हज़ार रुपया दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ ; लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देवप्रकाश—ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, यह सिद्धान्त

का इनकार है। वह साफ़-साफ़ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राज़ी नहीं हूँ।

देवप्रिया—उसकी कौन चलावे, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी। विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?

देवप्रकाश—(झुँझलाकर) रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को चालीस रुपये महीने न भेजता और न वे चीज़ें ही देता, जिन्हें पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है! चाहे वह जान निकालकर भी दे दे; लेकिन तुम न पसीजोगी।

देवप्रिया नाराज़ होकर चली गईं। देवप्रकाश उससे यही कहलाना चाहते थे, कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है; किन्तु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी, कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें; पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिए क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है, कि तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अन्त में इस बात पर ज़ोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बन्धन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृ-स्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनन्द हुआ कि अम्माँ और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिन्ता थी? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आवें। सात वर्ष हो गये, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा, मरा है या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अन्त में विवाह करने पर राज़ी तो हो जायगा; लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है; लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन सम्पूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति

और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँस-कर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। न, मैं आँखों देखकर यह जीती मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मैं कुछ भी नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंश-परंपरा का पालन न करेगा? क्या उसके जीवन में फिर यही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने पाँच सौ रुपये पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य, जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई। इन रुपयों से नव-वधू के लिए कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात, सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुम्ब-पाश में फँसूँ, तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा, कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धिहीन आदमी हूँ। मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा; लेकिन मेरे लिए इससे बढ़कर आनन्द और सन्तोष का विषय नहीं हो सकता।

(९)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गये। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—यह लौंडा देखने ही को सीधा है, है ज़हर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बर्छियों से कैसा छेद रहा है।

किन्तु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिए। न जाने अम्मा को इनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे से-अच्छा खाता था, फिर भी, उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना

चाहिए थां। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य-जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या! फिर मैं ही क्यों इस विपत्ति में फसूँ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच समझकर यह धारणा की है।

सन्ध्या समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए उसकी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।

देवप्रिया—क्या कलकत्ते जाओगे?

ज्ञान०—जी हाँ।

देवप्रिया—उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?

ज्ञान०—उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है, और मैं इतना निर्बल हो जाऊँ कि—

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर नमक मत छिड़क। माता-पिता का धर्म है; इसलिए कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे की परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।

ज्ञान०—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे रह। हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया!

देव०—क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो?

ज्ञान०—अगर आप लोगों की यह इच्छा है, तो यही होगा।

देवप्रकाश ने देखा, कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, और पत्नी के क्रोध को शान्त करने की चेष्टा करने लगे; मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—मैं इसकी सूरत न देखूँगी। अन्त को देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्हीं ने तो कटुवचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चाण्डाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उद्योग कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिए उसने यह प्रेम का स्वाँग रचा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ।

उसका यह मन्त्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा ; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया ; यों मुझे न जलाता।

देव०—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा ! अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। ज़रा शान्त हो जायगा, तो मैं समझाकर राजी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी ; किन्तु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर, 'हाँ' न की। निदान पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा ; पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल था। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनों कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाये लेता था ! जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को खूब जी भर कोसती ; मगर दोनों भाइयों में प्रेम-पत्र व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेन्शन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गये थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुन्दर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उनका बखान किया करती ; पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलज़ार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे ; यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा। भगवान् ऐसा

भी कोई दिन आवेगा, कि मैं अपनी बहू का मुख-चंद्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा, कि मेरे घर में भी आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी ? रात-दिन यही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई। आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगी— यही मेरे प्राणों का घातक है ! तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यंत रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाये देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा, और उसमें जितना कोसते बना, कोसा— तू मेरे प्राणों का बैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आवेगा, कि मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण मंत्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा, यहाँ तक कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता ! इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाकघर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिए घातक हो गया। परदेश में उसे यही संतोष हुआ था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब वह अवलम्ब जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने ज़ोर देकर लिखा—अब आप मेरे लिए कोई कष्ट न उठावें। मुझे अपनी गुज़र करने के लिए काफ़ी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान ख़ूब चलती थी; लेकिन कलकत्ते जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। साठ-सत्तर रुपये की मासिक आमदनी होती ही क्या है। अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी; बल्कि त्याग था। एक वक्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग सेलन की कोठरी में रहकर बीस-पचीस रुपये बच रहते थे। अब दोनों वक्त भोजन मिलने लगा। कपड़े भी ज़रा साफ़ पहनने लगा; मगर थोड़े ही दिनों में उसके ख़र्च में औषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की-सी दशा हो गई। बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे-से-अच्छा स्वा-

हृदय भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलम्ब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है। कोई आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सवेरा हो जाता। कभी बाजार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता; पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाजारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता तो थककर चूर-चूर हो जाता। इस वक्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता; पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था? दीवारों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञान-प्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिए भावुकता कब शोभा देती है? शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा, कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिए आना असम्भव था? मेरे लिए तो घर का द्वार बन्द है; पर उसे कौन-सी बाधा है? उस ग़रीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की क़सम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं; पर मनुष्यता विरले ही में होती है। सत्य-प्रकाश उस बहुसंख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ? वह सुख और शान्ति और कहाँ मिल सकती है? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है? वह इस आवेश को अपनी सम्पूर्ण विचार-शक्ति से रोकता; पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रखी हुई मिठाइयों की याद, बार-बार खेल से खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिन्ताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुखों से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या? क्या मैं श्रम से जी चुराता था? अगर बालपन ही में

मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि-शक्तियों का गला न घोंट दिया गया होता तो मैं भी आज आदमी होता; पेट पालने के लिए इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं; मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान में आकर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिये ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उसका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा और वह सिर थामकर बैठ गया कि ज़मीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विषयुक्त लेखनी से निकला हुआ ज़हर का तीर था, जिसने एक पल में उसे संज्ञाहीन कर दिया। उसकी सारी मर्मान्तक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठंडी साँस में समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आप-ही-आप पानी हो गई। हा! सारा जीवन नष्ट हो गया! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ? मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिए ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ! भगवान्! तुम्हीं इसके साक्षी हो?

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अन्त हुआ। फिर तो वह एक नित्य का कर्म हो गया! पत्र आता और फाड़ दिया जाता। किन्तु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बन्द कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते जब माता पुचकारकर गोद में बिठा लेती, और कहती—बेटा! पिता संध्या समय दफ्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते—भैया! माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसी ही जब वह

गंगा स्नान करने गई थी। उसकी प्यार भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उसने नववधू माता को 'अम्मा' कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते, उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौर-गृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहता था! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया! ऐसी कितनी ही घटनाएं याद आतीं। अब बिना किसी अपराध के माँ डाँट बताती, पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब वह करवट बदल लेता, और फिर वही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्ला उठता—'इस जीवन का अन्त क्यों नहीं हो जाता!' इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गये। संध्या हो गई थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना, और चौंक पड़ा—कोई परिचित आवाज़ थी। दौड़ा द्वार पर आया, तो देखा ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। अन्धकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश ने कहा—मैं आजकल बीमार हूँ।

ज्ञानप्रकाश—यह तो देख ही रहा हूँ।

सत्य०—तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?

ज्ञान०—सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।

सत्य०—अच्छा, हाँ, दी होगी, पत्र दूकान में डाला गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?

ज्ञान०—माताजी का देहान्त हो गया।

सत्य०—अरे! क्या बीमार थीं?

ज्ञान०—जी नहीं। मालूम नहीं क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य०—पिताजी तो कुशल से हैं?

ज्ञान०—हाँ अभी मरे नहीं हैं।

सत्य०—अरे! क्या बहुत बीमार हैं?

ज्ञान०—माता ने विष खा लिया, तो वह उनका मुँह खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने ज़ोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं, तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।

सत्य०—तो घर ही चौपट हो गया!

ज्ञान०—ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था। तीसरे दिन दोनों भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा होकर चल दिये।

डिक्री के रुपये

नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक भिन्नता थी, जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलाश बाग का कोमल पौदा; नईम को क्रिकेट और फुटबाल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तकावलोकन का; नईम एक विनोदशील, वाक्चतुर, निर्द्वन्द्व, हास्यप्रिय, विलासी युवक था। उसे 'कल' की चिंता कभी न सताती थी। विद्यालय उसके लिए क्रीड़ा का स्थान था, और कभी-कभी बेंच पर खड़े होने का। इसके प्रतिकूल कैलास एक एकान्तप्रिय-आलसी, व्यायाम से कोसों भागनेवाला, आमोद-प्रमोद से दूर रहनेवाला, चिन्ताशील, आदर्शवादी जीव था। वह भविष्य की कल्पनाओं से विकल रहता था। नईम एक सुसम्पन्न, उच्च पदाधिकारी पिता का एक-मात्र पुत्र था। कैलास एक साधारण व्यवसायी के कई पुत्रों में से एक था। उसे पुस्तकों के लिए प्रचुर धन न मिलता था, वह मांग-जांचकर काम निकाला करता था। एक के लिए जीवन आनन्द का स्वप्न था, और दूसरे के लिए विपत्तियों का बोझ; पर इतनी विषमताओं के होते हुए भी उन दोनों में घनिष्ठ मैत्री और निःस्वार्थ, विशुद्ध प्रेम था। कैलास मर जाता पर नईम का अनुग्रह-पात्र न बनता; और नईम मर जाता पर कैलाश से बेअदबी न करता नईम की खातिर से कैलास कभी-कभी स्वच्छ, निर्मल वायु का सुख उठा लिया करता था। कैलास की खातिर से नईम भी कभी-कभी भविष्य के स्वप्न देख लिया करता था। नईम के लिए राज्यपद का द्वार खुला हुआ था, भविष्य कोई अपार सागर न था। कैलास को अपने हाथों से कुँआ खोदकर पानी पीना था, भविष्य एक भीषण संग्राम था, जिसके स्मरण मात्र से उसका चित्त अशान्त हो उठता था।

(२)

कालेज से निकलने के बाद नईम को शासन-विभाग में एक उच्च पद प्राप्त हो गया, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था। कैलास प्रथम श्रेणी में पास हुआ था; किन्तु उसे वर्षों एड़ियां रगड़ने, खाक छानने और कुएँ झांकने पर भी कोई काम न मिला। यहां तक कि विवश होकर अपनी कलम का आश्रय लेना पड़ा। उसने

एक समाचार पत्र निकाला। एक ने राज्याधिकार का रास्ता लिया, जिसका लक्ष्य धन था, और दूसरे ने सेवा-मार्ग का सहारा लिया जिसका परिणाम ख्याति, कष्ट और कभी-कभी कारागार होता है। नईम को उसके दफ्तर के बाहर कोई न जानता था; किन्तु वह बँगले में रहता, मोटर पर हवा खाता, थियेटर देखता और गरमियों में नैनिताल की सैर करता था। कैलास को सारा संसार जानता था; पर उसके रहने का मकान कच्चा था, सवारी के लिए अपने पाँव थे। बच्चों के लिए दूध भी मुश्किल से मिलता था, साग-भाजी में काट-कपट करना पड़ता था। नईम के लिए सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह थी, कि उसके केवल एक पुत्र था; पर कैलास के लिए सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात उसकी सन्तान-वृद्धि थी, जो उसे पनपने न देती थी। दोनों मित्रों में पत्र व्यवहार होता रहता था। कभी-कभी दोनों में मुलाकात भी हो जाती। नईम कहता था—यार, तुम्हीं मज़े में हो, देश और जाति की कुछ सेवा तो कर रहे हो। यहाँ तो पेट-पूजा के सिवा और किसी काम के न हुए; पर यह पेट-पूजा उसने कई दिनों की कठिन तपस्या से हृदयंगम कर पाई थी, और वह उसके प्रयोग के लिए अवसर ढूँढ़ता रहता था।

कैलास खूब समझता था, कि यह केवल नईम की विनयशीलता है। यह मेरी कुदशा से दुःखी होकर मुझे इस उपाय से सांत्वना देना चाहता है। इसलिए वह अपनी वास्तविक स्थिति को उससे छिपाने का विफल प्रयत्न किया करता था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का मैनेजर अपने बँगले में, ठीक दोपहर के समय, सैकड़ों आदमियों के सामने, क़त्ल कर दिया गया था। यद्यपि खूनी भाग गया था; पर अधिकारियों को सन्देह था कि कुँवर साहब की दुष्प्रेरणा से ही यह हत्याभिनय हुआ है। कुँवर साहब अभी बालिग़ न हुए थे। रियासत का प्रबन्ध कोर्ट आव् वार्ड द्वारा होता था। मैनेजर पर कुँवरसाहब की देख-रेख का भार भी था। विलास-प्रिय कुँवर को मैनेजर का हस्तक्षेप बहुत ही बुरा मालूम होता था। दोनों में वर्षों से मनमुटाव था। यहाँ तक कि कई बार प्रत्यक्ष कटु वाक्यों की नौबत भी आ पहुँची थी; अतएव कुँवर साहब पर सन्देह होना स्वाभाविक ही था। इस घटना का अनुसंधान करने के लिए ज़िले के हाकिम ने मिरज़ा नईम को नियुक्त किया। किसी पुलिस-कर्मचारी द्वारा तहक़ीक़ात कराने में कुँवर साहब के अपमान का भय था।

नईम को अपने भाग्य-निर्माण का स्वर्ण सुयोग प्राप्त हुआ। वह न त्यागी था, न ज्ञानी। सभी उसके चरित्र की दुर्बलता से परिचित थे ; अगर कोई न जानता था, तो हुक्काम लोग। कुँवर साहब ने मुँह-माँगी मुराद पाई। नईम जब विष्णुपुर पहुँचा, तो उसका असामान्य आदर-सत्कार हुआ। भेंट चढ़ने लगीं, अरदली के चपरासी पेशकार, साईस, बावर्ची, खिदमतगार, सभी के मुँह तर और मुट्ठियाँ गरम होने लगीं। कुँवर साहब के हवाली-मवाली दिन-रात घेरे रहते, मानों दामाद ससुराल आया हो।

एक दिन प्रातःकाल कुँवर साहब की माता आकर नईम के सामने हाथ बाँधे खड़ी हो गईं। नईम लेटा हुआ हुक्का पी रहा था। तप, संयम और वैधव्य की यह तेजस्वी प्रतिमा देखकर वह उठ बैठा।

रानी उसकी ओर वात्सल्य-पूर्ण लोचनों से देखती हुई बोली—हुजूर मेरे बेटे का जीवन आप के हाथ में है। आप ही उसके भाग्य-विधाता हैं। आपको उसी माता की सौगंद है, जिसके आप सुयोग्य पुत्र हैं, मेरे लाल की रक्षा कीजिएगा। मैं अपना सर्वस्व आपके चरणों पर अर्पण करती हूँ। स्वार्थ ने दया के संयोग से नईम को पूर्ण रीति से वशीभूत कर लिया।

(३)

उन्हीं दिनों कैलास नईम से मिलने आया। दोनों मित्र बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों-बातों में यह सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया, और कैलास पर अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहा।

कैलास ने कहा—मेरे विचार में पाप सदैव पाप है, चाहे वह किसी आवरण में मंडित हो।

नईम—और मेरा विचार है कि अगर गुनाह से किसी की जान बचती हो, तो वह ऐन सवाब है। कुँअर साहब अभी नौजवान आदमी हैं। बहुत ही होनहार, बुद्धिमान्, उदार और सहृदय हैं। आप उनसे मिलें तो खुश हो जायँ। उनका स्वभाव अत्यन्त विनम्र है। मैं, जो यथार्थ में दुष्ट प्रकृति का मनुष्य था, बरबस कुँवर साहब को दिक किया करता था। यहाँ तक कि एक मोटरकार के लिए इसने रुपये न स्वीकार किये, न सिफ़ारिश की। मैं नहीं कहता, कि कुँवर साहब का यह कार्य स्तुत्य है ; लेकिन बहस यह है कि उनको अपराधी सिद्ध करके उन्हें कालेपानी की हवा

खिलाई जाय, या निरपराध सिद्ध करके उनकी प्राण रक्षा की जाय ! और भई, तुमसे तो कोई परदा नहीं है, पूरे बीस हज़ार की थैली है । बस, मुझे अपनी रिपोर्ट में यह लिख देना होगा, कि व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण यह दुर्घटना हुई है, राजा साहब का इससे कोई सम्पर्क नहीं । जो शहादतें मिल सकीं, उन्हें मैंने गायब कर दिया । मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त करने में अधिकारियों की एक मसलहत थी । कुँवर साहब हिन्दू हैं ; इसलिए किसी हिन्दू-कर्मचारी को नियुक्त न करके ज़िलाधीश ने यह भार मेरे सिर पर रखा । यह सांप्रदायिक विरोध मुझे निस्पृह सिद्ध करने के लिए काफ़ी है । मैंने दो-चार अवसरों पर कुछ तो हाकिमों की प्रेरणा से और कुछ स्वेच्छा से मुसलमानों के साथ पक्षपात किया, जिससे यह मशहूर हो गया है कि मैं हिन्दुओं का कट्टर दुश्मन हूँ । हिन्दू लोग मुझे पक्षपात का पुतला समझते हैं । यह भ्रम मुझे आक्षेपों से बचाने के लिए काफ़ी है । बताओ, हूँ तकदीरवर की नहीं !

कैलास—अगर कहीं बात खुल गई, तो ?

नईम—तो यह मेरी समझ का फेर, मेरे अनुसंधान का दोष, मानव प्रकृति के एक अटल नियम का उज्ज्वल उदाहरण होगा ! मैं कोई सर्वज्ञ तो हूँ नहीं । मेरी नीयत पर आँच न आने पावेगी । मुझपर रिश्वत लेने का संदेह न हो सकेगा । आप इसके व्यवहारिक कोण पर न जाइए, केवल नैतिक कोण पर निगाह रखिए । यह कार्य नीति के अनुकूल है या नहीं ? आध्यात्मिक सिद्धांतों को न खींच लाइएगा, केवल नीति के सिद्धांतों से इसकी विवेचना कीजिए ।

कैलास—इसका एक अनिवार्य फल यह होगा, कि दूसरे रईसों को भी ऐसे दुष्कृत्यों की उत्तेजना मिलेगी । धन से बड़े-से-बड़े पापों पर परदा पड़ सकता है, इस विचार के फैलने का फल कितना भयंकर होगा, इसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं ।

नईम—जी नहीं, मैं यह अनुमान नहीं कर सकता । रिशवत अब भी नब्बे फी सदी अभियोगों पर परदा डालती है । फिर भी पाप का भय प्रत्येक के हृदय में है ।

दोनों मित्रों में देर तक इस विषय में तर्क-वितर्क होता रहा ; लेकिन कैलास का न्याय-विचार नईम के हास्य और व्यंग्य से पेश न पा सका ।

(४)

विष्णुपुर के हत्याकांड पर समाचार-पत्रों में आलोचना होने लगी। सभी पत्र एक स्वर से राजा साहब को ही लांछित करते और गवर्नमेंट को राजा साहब का अनुचित पक्षपात करने का दोष लगाते थे; लेकिन इसके साथ यह भी लिख देते थे, कि अभी यह अभियोग विचाराधीन है; इसलिए इस पर टीका नहीं की जा सकती।

मिरजा नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिए पूरे एक महीने व्यतीत किये। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के संदेह की पुष्टि हो गई।

कैलास के सामने अब एक जटिल समस्या उपस्थित हुई। अभी तक उसने इस विषय पर एक-मात्र मौन धारण कर रखा था। वह यह निश्चय न कर सकता था, कि क्या लिखूँ। गवर्नमेंट का पक्ष लेना अपनी अन्तरात्मा को पद-दलित करना था, आत्म स्वातंत्र्य का बलिदान करना था; पर मौन रहना और भी अपमानजनक था। अन्त को जब सहयोगियों में दो-चार ने उसके ऊपर सांकेतिक रूप से आक्षेप करना शुरू किया कि उसका मौन निरर्थक नहीं है, तब उसके लिए तटस्थ रहना असह्य हो गया। उसके वैयक्तिक तथा जातीय कर्तव्य में घोर संग्राम होने लगा। उस मैत्री को, जिसके अंकुर पचीस वर्ष पहले हृदय में अंकुरित हुए थे, और अब जो सघन, विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुकी थी, हृदय से निकालना, हृदय को चीरना था। वह मित्र, जो उसके दुःख में दुखी और सुख में सुखी होता था, जिसका उदार हृदय नित्य उसकी सहायता के लिए तत्पर रहता था, जिसके घर में जाकर वह अपनी चिन्ताओं को भूल जाता था, जिसके प्रेमालिंगन में वह अपने कष्टों को विसर्जित कर दिया करता था, जिसके दर्शन-मात्र ही से उसे आश्वासन, दृढ़ता तथा मनोबल प्राप्त होता था, उसी मित्र की जड़ खोदनी पड़ेगी! वह बुरी सायत थी, जब मैंने सम्पादकीय-क्षेत्र में पदार्पण किया, नहीं तो आज इस धर्म-संकट में क्यों पड़ता! कितना घोर विश्वासघात होगा! विश्वास मैत्री का मुख्य अंग है। नईम ने मुझे अपना विश्वास-पात्र बनाया है, मुझसे कभी परदा नहीं रखा, उसके उन गुप्त रहस्यों को प्रकाश में लाना उसके प्रति कितना घोर अन्याय होगा! नहीं, मैं मैत्री को कलंकित न करूँगा, उसकी निर्मल कीर्ति पर धब्बा न लगाऊँगा, मैत्री

पर वज्राघात न करूँगा। ईश्वर वह दिन न लावे, कि मेरे हाथों नईम का अहित हो। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि यदि मुझ पर कोई संकट पड़े, तो नईम मेरे लिए प्राण तक दे देने को तैयार हो जायगा। उसी मित्र को मैं संसार के सामने अपमानित करूँ, उसकी गरदन पर कुठार चलाऊँ! भगवान् मुझे, वह दिन न दिखाना।

लेकिन जातीय कर्तव्य का पक्ष भी निरस्त्र न था। पत्र का सम्पादक परंपरागत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है। वह जो कुछ देखता है, वह जाति की विराट् दृष्टि से ही। वह जो कुछ विचार करता है, उस पर भी जातीयता की छाप लगी होती है। नित्य जाति के विस्तृत विचार-क्षेत्र में विचरण करते रहने से व्यक्ति का महत्त्व उसकी दृष्टि में अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है। वह व्यक्ति को क्षुद्र, तुच्छ, नगण्य समझने लगता है। व्यक्ति का जाति पर बलि देना उसकी नीति का प्रथम अंग है। यहाँ तक कि वह बहुधा अपने स्वार्थ को भी जाति पर वार देता है। उसके जीवन का लक्ष्य महान् और आदर्श पवित्र होता है। वह उन महान् आत्माओं का अनुगामी होता है, जिन्होंने राष्ट्रों का निर्माण किया है, जिनकी कीर्ति अमर हो गई है, जो दलित राष्ट्रों का उद्धार करनेवाली हो गई है? वह यथाशक्ति कोई ऐसा काम न कर सकता, जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल विरुदावली में कालिमा लगने का भय हो। कैलाश राजनीतिक क्षेत्र में बहुत कुछ यश और गौरव प्राप्त कर चुका था। उसकी सम्मति आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। उसके निर्भीक विचारों ने, उसकी निष्पक्ष टीकाओं ने उसे संपादक-मण्डली का प्रमुख नेता बना दिया था। अतएव इस अवसर पर मैत्री का निर्वाह, केवल उसकी नीति और आदर्श ही के विरुद्ध नहीं, उसके मनोगत भावों के भी विरुद्ध था। इसमें उसका अपमान था, आत्मपतन था, भीरुता थी वह कर्तव्य-पथ से विमुख होना और राजनीतिक क्षेत्र से सदैव के लिए बहिष्कृत हो जाना था। सोचता, एक व्यक्ति की चाहे वह मेरा कितना ही आत्मीय क्यों न हो, राष्ट्र के सामने क्या हस्ती है? नईम के बनने या बिगड़ने से राष्ट्र पर कोई असर न पड़ेगा; लेकिन शासन की निरंकुशता और अत्याचार पर परदा डालना राष्ट्र के लिए भयंकर सिद्ध हो सकता है। उसे इसकी परवा न थी, कि मेरी आलोचना का प्रत्यक्ष कोई प्रभाव होगा या नहीं। संपादक की दृष्टि में अपनी सम्मति सिंहनाद के समान प्रतीत होती है। वह कदाचित् समझता है, कि मेरी लेखनी शासन को कंपायमान कर देगी, विश्व को हिला देगी। शायद सारा संसार मेरी

कलम की सरसराहट से थर्रा उठेगा। मेरे विचार प्रकट होते ही युगांतर उपस्थित कर देंगे। नईम मेरा मित्र है; किन्तु राष्ट्र मेरा इष्टदेव है। मित्र के पद की रक्षा के लिए क्या अपने इष्ट पर प्राणघातक आघात करूँ!

कई दिनों तक कैलास के व्यक्तिगत और सम्पादकीय कर्तव्यों में संघर्ष होता रहा। अन्त को जाति ने व्यक्ति को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया, कि मैं इस रहस्य का यथार्थ स्वरूप दिखा दूँगा, शासन के अनुत्तर-दायित्व को जनता के सामने खोलकर रख दूँगा; शासन-विभाग के कर्मचारियों की स्वार्थ-लोलुपता का नमूना दिखा दूँगा; दुनियाँ को दिखा दूँगा कि सरकार किनकी आँखों से देखती है, किनके कानों से सुनती है। उसकी अक्षमता, उसकी अयोग्यता, और उसकी दुर्बलता को प्रमाणित करने का सबसे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण मिल सकता है! नईम मेरा मित्र है तो हो; जाति के सामने वह कोई चीज नहीं है। उसकी हानि के भय से मैं राष्ट्रीय कर्तव्य से क्यों मुँह फेरूँ, अपनी आत्मा को क्यों दूषित करूँ, अपनी स्वाधीनता को क्यों कलंकित करूँ! आह, प्राणों से प्रिय नईम! मुझे क्षमा करना, आज तुम-जैसे मित्र-रत्न को मैं अपने कर्तव्य की वेदी पर बलि चढ़ाता हूँ; मगर तुम्हारी जगह अगर मेरा पुत्र होता, तो उसे भी इसी कर्तव्य की बलिवेदी पर भेंट कर देता।

दूसरे दिन से कैलास ने इस दुर्घटना की मीमांसा शुरू की। जो कुछ उसने नईम से सुना था, वह सब एक लेख-माला के रूप में प्रकाशित करने लगा। घर का भेदी लंका ढाहे। अन्य संपादकों को जहाँ अनुमान, तर्क और युक्ति के आधार पर अपना मत स्थिर करना पड़ता था, और इसलिए वे कितना ही अनर्गल, अपवाद-पूर्ण बातें लिख डालते थे, वहाँ कैलास की टिप्पणियाँ प्रत्यक्ष प्रमाणों से युक्त होती थीं। वह पते की बातें कहता था, और उस निर्भीकता के साथ, जो दिव्य अनुभव का निर्देश करती थी। उसके लेखों में विस्तार कम; पर सार अधिक होता था। उसने नईम को भी न छोड़ा, उसकी स्वार्थ-लिप्सा का खूब खाका उड़ाया। यहाँ तक कि वह धन की संख्या भी लिख दी, जो इस कुत्सित व्यापार पर परदा डालने के लिए उसे दी गई थी। सबसे मजे की बात यह थी कि उसने नईम से एक राष्ट्रीय गुप्तचर की मुलाकात का भी उल्लेख किया, जिसने नईम को रुपये लेते देखा था। अन्त में गवर्नमेंट को भी चैलेंज दिया कि उसमें साहस हो, तो वह मेरे प्रमाणों को झूठा साबित

कर दे। इतना ही नहीं, उसने यह वार्तालाप भी अक्षरशः प्रकाशित कर दिया, जो उसके और नईम के बीच हुआ था। रानी का नईम के पास जाना, उसके पैरों पर गिरना, कुँवर साहब का नईम के पास नाना प्रकार के तोहफे लेकर आना, इन सभी प्रसंगों ने उसके लेखों में एक जासूसी उपन्यास का मज़ा पैदा कर दिया।

इन लेखों ने राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। पत्र सम्पादकों को अधिकारियों पर निशाने लगाने के ऐसे अवसर बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। जगह-जगह शासन की इस करतूत की निन्दा करने के लिए सभाएँ होने लगीं। कई सदस्यों ने व्यवस्थापक-सभा में इस विषय पर प्रश्न करने की घोषणा की। शासकों को कभी ऐसी मुँह की न खानी पड़ी थी। आखिर उन्हें अपनी मान रक्षा के लिए इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरज़ा नईम को कैलास पर मान-हानि का अभियोग चलाने के लिए विवश करें।

(५)

कैलास पर इस्तग़ासा दायर हुआ। मिरज़ा नईम की ओर से सरकार पैरवी करती थी। कैलास स्वयं अपनी पैरवी कर रहा था। न्याय के प्रमुख संरक्षकों (वकील बैरिस्टरों) ने किसी अज्ञात कारण से उसकी पैरवी करना अस्वीकार किया। न्यायाधीश को हारकर कैलास को कानून की सनद न रखते हुए भी अपने मुक़दमे की पैरवी करने की आज्ञा देनी पड़ी। महीनों अभियोग चलता रहा। जनता में सनसनी फैल गई। रोज़ हज़ारों आदमी अदालत में एकत्र होते थे। बाजारों में अभियोग की रिपोर्ट पढ़ने के लिए समाचार-पत्रों की लूट होती थी। चतुर पाठक पढ़े हुए पत्रों से घड़ी रात जाते-जाते दुगुने पैसे खड़े कर लेते थे; क्योंकि उस समय तक पत्र-विक्रेताओं के पास कोई पत्र न बचने पाता था। जिन बातों का ज्ञान पहले गिने-गिनाये पत्र-ग्राहकों को था; उन पर अब जनता की टिप्पणियाँ होने लगीं। नईम की मिट्टी कभी इतनी ख़राब न हुई थी; गली-गली, घर-घर, उसी की चर्चा थी। जनता का क्रोध उसी पर केन्द्रित हो गया था। वह दिन भी स्मरणीय रहेगा, जब दोनों सच्चे, एक दूसरे पर प्राण देनेवाले मित्र अदालत में आमने-सामने खड़े हुए और कैलास ने मिरज़ा नईम से जिरह करनी शुरू की। कैलास को ऐसा मानसिक कष्ट हो रहा था, मानों वह नईम की गरदन पर तलवार चलाने जा रहा है। और नईम के लिए तो वह अग्नि-परीक्षा थी। दोनों के मुँख उदास थे; एक का आत्म-ग्लानि से, दूसरे का

भय से। नईम प्रसन्न बनने की चेष्टा करता था, कभी-कभी सूखी हँसी भी हँसता था; लेकिन कैलास—आह! उस गरीब के दिल पर जो गुज़र रही थी, उसे कौन जान सकता है।

कैलास ने पूछा—आप और हम साथ पढ़ते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—हम दोनों में इतनी घनिष्ठता थी कि हम आपस में कोई परदा न रखते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—जिन दिनों आप इस मामले की जाँच कर रहे थे, मैं आपसे मिलने गया था, इसे भी आप स्वीकार करते हैं?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—क्या उस समय आपने मुझसे यह नहीं कहा था, कि कुँवर साहब की प्रेरणा से यह हत्या हुई है?

नईम—कदापि नहीं।

कैलास—आपके मुख से यह शब्द नहीं निकले थे, कि बीस हजार की थैली है?

नईम ज़रा भी न झिझका, ज़रा भी संकुचित न हुआ। उसकी ज़बान में लेश-मात्र भी लुकनत न हुई, वाणी में ज़रा भी थर-थराहट न आई। उसके मुख पर अशान्ति, अस्थिरता या असमंजस का कोई भी चिन्ह न दिखाई दिया। वह अविचल खड़ा रहा। कैलास ने बहुत डरते-डरते यह प्रश्न किया था, उसको भय था कि नईम इसका कुछ जवाब न दे सकेगा। कदाचित् रोने लगेगा; लेकिन नईम ने निःशंक भाव से कहा—सम्भव है, आपने स्वप्न में मुझसे यह बातें सुनी हों।

कैलास एक क्षण के लिए दंग हो गया। फिर उसने विस्मय से नईम की ओर नज़र डालकर पूछा—क्या आपने यह नहीं फरमाया, कि मैंने दो-चार अवसरों पर मुसलमानों के साथ पक्षपात किया है, और इसलिए मुझे हिन्दू-विरोधी समझकर इस अनुसंधान का भार सौंपा गया है?

नईम ज़रा भी न झिझका। अविचल, स्थिर और शांत भाव से बोला—आपकी कल्पना-शक्ति वास्तव में आश्चर्य-जनक है। बरसों तक आपके साथ रहने पर भी मुझे

यह विदित न हुआ था, कि आप में घटनाओं का आविष्कार करने की ऐसी चमत्कार-पूर्ण शक्ति है।

कैलास ने और कोई प्रश्न न किया। उसे अपने पराभव का दुःख न था, दुःख था नईम की आत्मा के पतन का। वह कल्पना भी न कर सकता था, कि कोई मनुष्य अपने मुँह से निकली हुई बात को इतनी ढिठाई से अस्वीकार कर सकता है, और वह भी उसी आदमी के मुँह पर, जिससे वह बात कही गई हो। यह मानवीय दुर्बलता की पराकाष्ठा है। वह नईम, जिसका अंदर और बाहर एक था, जिसके विचार और व्यवहार में भेद न था, जिसकी वाणी आंतरिक भावों की दर्पण थी, वह नईम, वह सरल, आत्माभिमानी, सत्य-भक्त नईम; इतना धूर्त, ऐसा मक्कार हो सकता है! क्या दासता के साँचे में ढलकर मनुष्य अपना मनुष्यत्व भी खो बैठता है? क्या यह दिव्य गुणों के रूपांतरित करने का यंत्र है?

अदालत ने नईम को बीस हज़ार रुपयों की डिक्री दे दी। कैलास पर मानों वज्रपात हो गया।

(६)

इस निश्चय पर राजनीतिक-संसार में फिर कुहराम मचा। सरकारी पक्ष के पत्रों ने कैलास को धूर्त कहा; जन-पक्षवालों ने नईम को शैतान बनाया। नईम के दुस्साहस ने न्याय की दृष्टि में चाहे उसे निरपराध सिद्ध कर दिया हो; पर जनता की दृष्टि में तो और भी गिरा दिया। कैलास के पास सहानुभूति के पत्र और तार आने लगे। पत्रों में उसकी निर्भीकता और सत्यनिष्ठा की प्रशंसा होने लगी। जगह-जगह सभायें और जलसे हुए और न्यायालय के निश्चय पर असन्तोष प्रकट किया गया; किन्तु सूखे बादलों से पृथ्वी की तृप्ती तो नहीं होती? रुपये कहाँ से आवें और वह भी एक दम से बीस हज़ार? आदर्श-पालन का यही मूल्य है; राष्ट्र-सेवा मँहगा सौदा है। बीस हजार! इतने रुपये तो कैलास ने शायद स्वप्न में देखे भी न हों और अब देने पड़ेंगे। कहाँ से देगा? इतने रुपये के सूद से ही वह जीविका के चिन्ता से मुक्त हो सकता था; उसे अपने पत्र में अपनी विपत्ति का रोना रोकर चंदा एकत्र करने से घृणा थी। मैंने अपने ग्राहकों की अनुमति लेकर इस शेर से मोर्चा नहीं लिया था। मैनेजर की वकालत करने के लिए किसी ने मेरी गरदन नहीं दबाई थी। मैंने अपना कर्तव्य समझ कर ही शासकों को चुनौती दी। जिस काम के लिए मैं, अकेला मैं

ज़िम्मेदार हूँ, उसका भार अपने ग्राहकों पर क्यों डालूँ! यह अन्याय है। सम्भव है, जनता में आन्दोलन करने से दो-चार हज़ार रुपये हाथ आ जायँ; लेकिन यह सम्पादकीय आदर्श के विरुद्ध है। इससे मेरी शान में बट्टा लगता है। दूसरों को यह कहने का क्यों अवसर दूँ कि और के मत्थे फुलौड़ियाँ खाईं, तो क्या बड़ा जग जीत लिया! जब जानते कि अपने बल-बूते पर गरजते! निर्भीक आलोचना का सेहरा तो हमारे सिर बँधा; उसका मूल्य दूसरों से क्यों वसूल करूँ? मेरा पत्र बन्द हो जाय, मैं पकड़कर कैद किया जाऊँ, मेरा मकान कुर्क कर लिया जाय, बरतन-भाँड़े नीलाम हो जायँ, यह सब मुझे मंजूर है। जो कुछ सिर पड़ेगी, भुगत लूँगा; पर किसी के सामने हाथ न फैलाऊँगा।

सूर्योदय का समय था। पूर्व दिशा से प्रकाश की छटा ऐसी दौड़ी चली आती थी, जैसे आँखों में आँसुओं की धारा। ठण्डी हवा कलेजे पर यों लगती थी, जैसे किसी के करुण क्रन्दन की ध्वनि। सामने का मैदान दुःखी हृदय की भाँति ज्योति के बाणों से बिंध रहा था, घर में वह निःस्तब्धता छाई हुई थी, जो गृह-स्वामी के गुप्त रोदन की सूचना देती है। न बालकों का शोर-गुल था, और न माता की शांति-प्रसारिणी शब्द-ताड़ना। जब दीपक बुझ रहा हो, तो घर में प्रकाश कहाँ से आये! यह आशा का प्रभाव नहीं, शोक का प्रभाव था; क्योंकि आज ही कुर्क-अमीन कैलास की सम्पत्ति को नीलाम करने के लिए आनेवाला था।

उसने अन्तर्वेदना से विकल होकर कहा—आह! आज मेरे सार्वजनिक जीवन का अन्त हो जायगा। जिस भवन का निर्माण करने में अपने जीवन के पच्चीस वर्ष लगा दिये, वह आज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। पत्र की गरदन पर छुरी फिर जायगी, मेरे पैरों में उपहास और अपमान की बेड़ियाँ पड़ जायँगी, मुख में कालिख लग जायगी, यह शांति-कुटीर उजड़ जायगा, यह शोकाकुल परिवार किसी मुरझाये हुए फूल की पँखड़ियों की भाँति बिखर जायगा। संसार में उसके लिए कहीं आश्रय नहीं है। जनता की स्मृति चिरस्थायी नहीं होती; अल्प काल में मेरी सेवाएँ विस्मृति के अन्धकार में लीन हो जायँगी। किसी को मेरी सुध भी न रहेगी, कोई मेरी विपत्ति पर आँसू बहानेवाला भी न होगा।

सहसा उसे याद आया कि आज के लिए अभी अग्रलेख लिखना है। आज अपने सुहृद् पाठकों को सूचना दूँ कि यह इस पत्र के जीवन का अन्तिम दिवस है,

उसे फिर आपकी सेवा में पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त न होगा। हमसे अनेक भूलें हुई होंगी। आज हम उनके लिए आपसे क्षमा माँगते हैं। आपने हमारे प्रति जो समवेदना और सहृदयता प्रकट की है, उसके लिए हम सदैव आपके कृतज्ञ रहेंगे। हमें किसी से कोई शिकायत नहीं है। हमें इस अकाल मृत्यु का दुःख नहीं है, क्योंकि यह सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने कर्तव्य-पथ पर अविचल रहते हैं। दुःख यही है कि हम जाति के लिए इससे अधिक बलिदान करने में समर्थ न हुए।

इस लेख को आदि से अन्त तक सोचकर वह कुर्सी से उठा ही था कि किसी के पैरों की आहट मालूम हुई। गरदन उठाकर देखा, तो मिरज़ा नईम था। वही हँसमुख चेहरा, वही मन्द मुसकान, वही क्रीड़ामय नेत्र। आते ही कैलास के गले से लिपट गया।

कैलास ने गरदन छुड़ाते हुए कहा—क्या मेरे घाव पर नमक छिड़कने, मेरी लाश को पैरों से ठुकराने आये हो?

नईम ने उसकी गरदन को और ज़ोर से दबाकर कहा—और क्या, मुहब्बत के यही तो मजे हैं!

कैलास—मुझसे दिल्लगी न करो। भरा बैठा हूँ, मार बैठूँगा।

नईम की आँखें सजल हो गईं। बोला—आह ज़ालिम, मैं तेरी ज़बान से यही कटु वाक्य सुनने के लिए तो विकल हो रहा था। जितना चाहे कोसो, खूब गालियाँ दो, मुझे इसमें मधुर-संगीत का आनन्द आ रहा है।

कैलास—और अभी जब अदालत का कुर्क-अमीन मेरा घर-बार नीलाम करने आवेगा, तो क्या होगा? बोलो, अपनी जान बचाकर तो अलग हो गये।

नईम—हम दोनों मिलकर खूब तालियाँ बजावेंगे, और उसे बन्दर की तरह नचावेंगे।

कैलास—तुम अब पिटोगे मेरे हाथों से। ज़ालिम, तुझे मेरे बच्चों पर भी दया न आई?

नईम—तुम भी तो चले मुझी से ज़ोर आज़माने। कोई समय था, जब बाज़ी तुम्हारे हाथ रहती थी, अब मेरी बारी है। तुमने मौक़ा-महल तो देखा नहीं, मुझी पर पिल पड़े।

कैलास—सरासर सत्य की उपेक्षा करना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध था।

नईम—और सत्य का गला घोटना मेरे सिद्धान्त के अनुकूल।

कैलास—अभी एक पूरा परिवार तुम्हारे गले मढ़ दूँगा, तो अपनी क़िस्मत को रोओगे। देखने में तुम्हारा आधा भी नहीं हूँ; लेकिन सन्तानोत्पत्ति में तुम-जैसे तीन पर भारी हूँ। पूरे सात हैं, कम न बेश।

नईम—अच्छा लाओ, कुछ खिलाते-पिलाते हो, या तक़दीर का मरसिया ही गाये जाओगे? तुम्हारे सिर की क़सम, बहुत भूखा हूँ। घर से बिना खाये ही चल पड़ा।

कैलास—यहाँ आज सोलहो दंड एकादशी है। सब-के-सब शोक में बैठे उसी अदालत के जल्लाद की राह देख रहे हैं। खाने पीने का क्या ज़िक्र! तुम्हारे बेग में कुछ हो, तो निकालो। आज साथ बैठकर खा लें, फिर तो ज़िन्दगी-भर का रोना है ही।

नईम—फिर तो ऐसी शरारत न करोगे?

कैलास—वाह, यह तो अपने रोम रोम में व्याप्त हो गई है। जब तक सरकार पशुबल से हमारे ऊपर शासन करती रहेगी, हम उसका विरोध करते रहेंगे। खेद यही है कि अब मुझे उसका अवसर ही न मिलेगा। किन्तु तुम्हें बीस हज़ार रुपये में से पाँच टके भी न मिलेंगे। यहाँ रद्दियों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं है।

नईम—अजी, मैं तुमसे बीस हज़ार की जगह उसका पचगुना वसूल कर लूँगा, तुम हो किस फेर में?

कैलास—मुँह धो रखिए!

नईम—मुझे रुपयों की ज़रूरत है। आओ, कोई समझौता कर लो।

कैलास—कुँवर साहब के बीस हज़ार रुपये डकार गये, फिर भी अभी सन्तोष नहीं हुआ? बदहज़मी हो जायगी!

नईम—धन से धन की भूख बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती। आओ, कुछ मामला कर लो। सरकारी कर्मचारियों द्वारा मामला करने में और भी जेरबारी होगी।

कैलास—अरे तो क्या मामला कर लूँ? यहाँ काग़ज़ों के सिवा और कुछ हो भी तो!

नईम—मेरा ऋण चुकाने-भर को बहुत है। अच्छा इसी बात पर समझौता कर लो कि जो चीज चाहूँ, ले लूँ। फिर रोना मत।

कैलास—अजी, तुम सारा दफ़्तर उठा ले जाओ; घर उठा ले जाओ, मुझे उठा ले जाओ, और मीठे टुकड़े खिलाओ। क़सम ले लो, जो ज़रा भी चूँ करूँ।

नईम—नहीं, मैं सिर्फ़ एक चीज़ चाहता हूँ, सिर्फ़ एक चीज़।

कैलास के कौतूहल की कोई सीमा न रही। सोचने लगा, मेरे पास ऐसी कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है? कहीं मुझसे मुसल्मान होने को तो न कहेगा। यही धर्म एक चीज़ है, जिसका मूल्य एक से लेकर असंख्य रखा जा सकता है। ज़रा देखूँ, तो हज़रत क्या कहते हैं?

उसने पूछा—क्या चीज़?

नईम—मिसेज़ कैलास से एक मिनट तक एकान्त में बातचीत करने की आज्ञा।

कैलास ने नईम के सिर पर एक चपत जमाकर कहा—फिर वही शरारत। सैकड़ों बार तो देख चुके हो, ऐसी कौन-सी इन्द्र की अप्सरा है?

नईम—वह कुछ भी हो, मामला करते हो, तो करो; मगर याद रखना, एकान्त की शर्त्त है।

कैलास—मंजूर है, मगर फिर जो डिग्री के रुपये माँगे गये, तो नोच ही खाऊँगा।

नईम—हाँ, मंजूर है।

कैलास—(धीरे से) मगर यार, नाज़ुक-मिज़ाज स्त्री है; कोई बेहूदा मज़ाक न कर बैठना।

नईम—जी, इन बातों में मुझे आपके उपदेश की ज़रूरत नहीं। मुझे उनके कमरे में ले तो चलिए।

कैलास—सिर नीचा किये रहना।

नईम—अजी आँखों में पट्टी बाँध दो।

कैलास के घर में परदा न था। उमा चिन्ता-मग्न बैठी हुई थी। सहसा नईम और कैलास को देखकर चौंक पड़ी। बोली—आइए, मिरज़ाजी, अबकी तो बहुत दिनों में याद किया।

कैलास नईम को वहीं छोड़कर कमरे के बाहर निकल आया; लेकिन परदे की आड़ से छिपकर देखने लगा कि इनमें क्या बातें होती हैं। उसे कुछ बुरा ख़याल न था, केवल कौतूहल था।

नईम—हम सरकारी आदमियों को इतनी फुरसत कहाँ ? डिक्री के रुपये वसूल करने थे ; इसलिए चला आया हूँ।

उमा कहाँ तो मुसकरा रही थी, कहाँ रुपयों के नाम सुनते ही उसका चेहरा फ़क़ हो गया। गंभीर स्वर से बोली—हम लोग स्वयं इसी चिन्ता में पड़े हुए हैं। कहीं रुपये मिलने की आशा नहीं है ; और उन्हें जनता से अपील करते संकोच होता है।

नईम—अजी, आप कहती क्या हैं ? मैंने तो सब रुपये पाई-पाई वसूल कर लिये।

उमा ने चकित होकर कहा—सच ! उनके पास रुपये कहाँ थे ?

नईम—उनकी हमेशा से यही आदत है। आपसे कह रखा होगा, मेरे पास कौड़ी नहीं है ; लेकिन मैंने चुटकियों में वसूल कर लिया। आप उठिए, खाने का इन्तज़ाम कीजिए।

उमा—रुपये भला क्या दिये होंगे ! मुझे एतबार नहीं आता।

नईम—आप सरल हैं, और वह एक ही काइयाँ। उसे तो मैं ही ख़ूब जानता हूँ। अपनी दरिद्रता के दुखड़े गा-गाकर आपको चकमा दिया करता होगा।

कैलाश मुसकराते हुए कमरे में आये और बोले—अच्छा अब निकलिए बाहर। यहाँ भी अपनी शैतानी से बाज़ नहीं आये ?

नईम—रुपयों की रसीद तो लिख दूँ।

उमा—क्या तुमने रुपये दे दिए ? कहाँ मिले ?

कैलाश—फिर कभी बतला दूँगा।—उठिए हज़रत !

उमा—बताते क्यों नहीं, कहाँ मिले ? मिरज़ाजी से कौन-सा परदा है ?

कैलास—नईम, तुम उमा के सामने मेरी तौहीन करना चाहते हो !

नईम—तुमने सारी दुनिया के सामने मेरी तौहीन नहीं की ?

कैलाश—तुम्हारी तौहीन की, तो उसके लिए बीस हज़ार रुपये नहीं देने पड़े !

नईम—मैं भी उसी टकसाल के रुपये दे दूँगा। उमा, मैं रुपये पा गया। इस बेचारे का परदा ढका रहने दो।

———

मुक्ति-मार्ग

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता। तीन बीघे ऊख थी। इससे छः सौ रुपये तो अनायास ही मिल जायँगे। और जो कहीं भगवान् ने डाँड़ी तेज़ कर दी, तो फिर क्या पूछना! दोनों बैल बुड्ढे हो गये। अब की नई गोईं बटेसर के मेले से ले आवेगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गये, तो लिखा लेगा। रुपयों की क्या चिंता है। बनिये अभी से उसकी खुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन संध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिये मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का एक झुंड अपनी तरफ़ आता दिखाई दिया। वह अपने मन में कहने लगा—इधर से भेड़ों के निकालने का रास्ता न था। क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुण्ड नहीं जा सकता था? भेड़ों को इधर से लाने की क्या ज़रूरत? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा? मालूम होता है, बुद्धू गड़ेरिया है। बचा को घमंड हो गया है; तभी तो खेतों के बीच से भेड़ें लिये चला आता है, ज़रा इसकी ढिठाई तो देखो। देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रिआयत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ? अभी एक भेंड़ा मोल माँगूँ, तो पाँच ही रुपये सुनावेगा। सारी दुनिया में चार-चार रुपये के कंबल बिकते हैं; पर वह पाँच रुपये से नीचे बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गईं। झींगुर ने ललकारकर कहा—अरे, ये भेड़ें कहाँ लिये आते हो। कुछ सूझता है कि नहीं?

बुद्धू नम्र भाव से बोला—महतो, डाँड़ पर से निकल जायँगी। घूमकर जाऊँगा, तो कोस-भर का चक्कर पड़ेगा।

झींगुर—तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिए मैं अपना खेत क्यों कुचलाऊँगा? हाड़े हो पर से ले जाना है, तो और खेतों के डांड से क्यों नहीं ले गये? क्या मुझे कोई चुहड़-चमार समझ लिया है? या धन का घमंड हो गया है? लौटाओ इनको!

बुद्धू—महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ, तो जो चाहे, सजा देना।

झींगुर—कह दिया कि लौटाओ इन्हें! अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आई, तो समझ लो, तुम्हारी खैर नहीं है।

बुद्धू—महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों तले आ जाय, तो मुझे बिठाकर सौ गालियाँ देना।

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था; किन्तु लौटने में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा—इसी तरह ज़रा-ज़रा-सी धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका! आज लौट जाऊँ, तो कल को निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। बारह कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिए फी रात आठ आने कोड़ी मजदूरी मिलती थी। इसके उपरान्त दूध बेचता था; ऊन के कम्बल बनाता था। सोचने लगा—इतने गरम हो रहे हैं, मेरा कर ही क्या लेंगे? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं; तो अधीर हो गईं। खेत में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार-मारकर खेत के किनारे से हटाता था और वे इधर-उधर से निकलकर खेत में आ पड़ती थीं। झींगुर ने आग होकर कहा—तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तो तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा।

बुद्धू—तुम्हें देखकर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ।

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया और अपना डण्डा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर। सबने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों

को हाँकता था, न झींगुर से कुछ कहता था। बस, खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला—अब सीधे चले जाओ। फिर इधर से आने का नाम न लेना।

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा—झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे।

(२)

केले को काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं नाज घर में आता है; और जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने घर आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तान्त कहा, तो लोग समझाने लगे—झींगुर, तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो! बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे मना लो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफत आ जायगी। झींगुर की समझ में बात आई। पछताने लगा कि मैंने कहाँ-से-कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्याण दबे रहने में है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठा-कर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था; किन्तु दूसरों के आग्रह से मजबूर होकर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो; पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता जाता था, यह आशामय भ्रम शांत होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिए घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानों बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अन्त में जब वह खेत पर पहुँचा, तो आग प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने 'हाय-हाय' मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े,

और खेतों से अरहर के पौधे उखाड़-उखाड़कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर मरकर जो उठते थे, और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त होकर, शस्त्र-प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाये, प्राण हथेली पर लिये, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बचकर, निकल आता था। अन्त में मानव-दल की विजय हुई; ऐसी विजय, जिस पर हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख जलकर भस्म हो गई, और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गईं।

(३)

आग किसने लगाई, यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाण-हीन तर्क का मूल्य ही क्या? झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोग प्रत्यक्ष कहते थे—यह आग तुमने लगवाई। तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया। तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आप-के आप गये, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते, तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता? झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का। दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगन्ध उड़ती रहती थी, भट्ठियाँ जलती रहती थीं और लोग भट्ठियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंड के मारे लोग साँझ ही से किवाड़े बन्द करके पड़ रहते, और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्ट-दायक था। ऊख केवल धनदाता ही नहीं, किसानों की जीवनदाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियाँ तापते, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते, जो रात को भट्ठियों की राख में सोया करते थे, ठंड से मर गये। कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ और सारा गाँव खाँसी-बुखार में ग्रस्त हो गया। और यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की!

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही सी

बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया और वह चैन की बंसी बजा रहा है! मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा।

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था। झींगुर ने उससे रब्त-जब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल सन्देह नहीं है। एक दिन कंबल लेने के बहाने गया, फिर दूध लेने के बहाने। बुद्धू उसका खूब आदर सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है, वह उसे बिना दूध और शर्बत पिलाये न आने देता। झींगुर आजकल एक सन कपेटनेवाली कल में मजदूरी करने आया करता। बहुधा कई-कई दिनों की मजदूरी इकट्ठा मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोजाना खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने खूब रब्त-जब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो? सच कहना!

झींगुर ने गंभीर भाव से कहा—मैं उससे कहूँ, भैया, तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मेरा घमंड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।

बुद्धू—मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो बिना उसका घर जलाये न मानता।

झींगुर—चार दिन की जिन्दगानी में बैर-विरोध बढ़ाने से क्या फ़ायदा? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा?

बुद्धू—बस, यही तो आदमी का धर्म है। पर भाई, क्रोध के बस होकर बुद्धि उलटी हो जाती है।

(४)

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिए खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाजार गरम था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फ़ीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज करता, तो बेलाग कहता—तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे, मत रखो, लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती। गरज थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे सहते थे, मानों पण्डे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता

रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट् आकार समेटकर उसे कागज़ के चन्द अक्षरों में छिपा लेती हैं। कभी-कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती हैं, आकार का लोप हो जाता है, किंतु उनके रहने को बहुत स्थान की ज़रूरत होती है। वह आईं, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवाई गईं। यों कहिए कि मकान नये सिरे से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों का आँवा लगाने के लिए उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकंडे। दीवार की उठवाई देनी पड़ी। वह भी नक़द नहीं, भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ्त में अच्छा-खासा घर तैयार हो गया। गृहप्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मज़दूरी करता, तो कहीं आधे पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था? यह अन्याय किससे सहा जायगा?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ़ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर राम-राम की, और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर-थर काँपते थे।

झींगुर ने चिलम पीते-पीते कहा—आजकल फाग-वाग नहीं होता क्या? सुनाई नहीं देता।

हरिहर—फाग क्या हो, पेट के धंधे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो, तुम्हारी आजकल कैसी निभती है?

झींगुर—क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल। दिन-भर कल में मज़दूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं। अब गृहीपरवेश की धूम है। सातों गाँवों में सुपारी जायगी।

हरिहर—लक्ष्मी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है; पर उसको देखो, तो धरती पर पैर नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठकर बोलता है।

झींगुर—क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का? पर यार, यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान दे, तो सिर झुकाकर चलना चाहिए। यह

जहाँ कि अपने बराबर किसी को समझे हो नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बानी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाये खेतों में कौए हँकाया करता था, आज उसका आसमान में दिया जलता है।

हरिहर—कहो, तो कुछ उतजोग करूँ?

झींगुर—क्या करोगे? इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।

हरिहर—भेड़ें तो हैं!

झींगुर—क्या, बगला मारे पखना हाथ।

हरिहर—फिर तुम्हीं सोचो।

झींगुर—ऐसी जुगत निकालो कि फिर पनपने न पावे।

इसके बाद फुस-फुस करके बात होने लगी। यह रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम। विद्वान् विद्वान् को देखकर, साधु साधु को देखकर और कवि कवि को देखकर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता; पर जुआरी जुआरी को देखकर, शराबी शराबी को देखकर, चोर चोर को देखकर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है। एक पण्डित अगर अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़े, तो दूसरे पण्डितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगावेंगे कि वह फिर उठ ही न सके; पर एक चोर पर आफ़त आई देख, दूसरा चोर उसकी आड़ कर लेता है। बुराई से सब घृणा करते हैं। इसलिए बुरों में परस्पर प्रेम होता है। भलाई को सारा संसार प्रशंसा करता है; इसलिए भलों में विरोध होता है। चोर को मारकर चोर क्या पावेगा? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पावेगा? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली; षड्यन्त्र रचने की विधि सोची गई। उसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया। झींगुर चला, तो अकड़ा जाता था। मार लिया दुश्मन को, अब कहाँ जाता है!

(५)

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा। बुद्धू ने पूछा—क्यों, आज नहीं गये क्या?

झींगुर—जा तो रहा हूँ। तुमसे यही कहने आया था कि मेरी बछिया को

अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया करते? बेचारी खूँटे से बँधी-बँधी मरी जाती है। न घास, न चारा। क्या खिलावें?

बुद्धू—भैया, मैं गाय-भैंस नहीं रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरिहर ने मेरी दो गउएँ मार डालीं। न जाने क्या क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा; लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसका कोई क्या करेगा। जब चाहो, पहुँचा दो।

यह कह कर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रखा था। केवल 'सत्यनारायण की कथा' की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गईं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं की थी, और न किसी को करते देखी थी। मजदूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया, वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुँचाना था। उसी रात को बुद्धू के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्मभोज भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुजरी। भेड़ों के झुण्ड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकाल भोजन करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सवेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर खबर दी—बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है। भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी!

बुद्धू ने सुना, और मानों ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला—हाय मेरी बछिया! चलो, जरा देखूँ तो, मैंने तो पगहिया नहीं लगाई थी। उसे भेड़ों में पहुँचाकर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी?

बुद्धू—भगवान् जानें, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।

झींगुर—जाते न तो पगहिया कौन लगा देता? गये होगे, याद न आती होगी।

एक ब्राह्मण—मरी तो भेड़ों में ही न? दुनिया तो यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।

हरिहर—मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाँधते देखा था।

बुद्धू—मुझे?

हरिहर—तुम नहीं काठो कंधे पर रखे बछिया को बाँध रहे थे ?

बुद्धू—बड़ा सच्चा है तू! तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था ?

हरिहर—तो मुझ पर काहे को बिगड़ते हो भाई ? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।

ब्राह्मण—इसका निश्चय करना होगा। गो-हत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्ठा है!

झींगुर—महाराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।

ब्राह्मण—इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है; कोई गऊ को मारने नहीं जाता।

झींगुर—हाँ, गउओं को खोलना बाँधना है तो जोखिम का काम!

ब्राह्मण—शास्त्रों में इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।

झींगुर—हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इसका मान होता है। जो माता, सो गऊ; लेकिन महाराज, चूक हो गई। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बिचारा निपट जाय।

बुद्धू खड़ा सुन रहा था, कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूटनीति भी समझ रहा था। मैं लाख कहूँ, मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन ? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित्त से बचने के लिए ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित्त कराने में कल्याण होता था। भला ऐसे अवसर पर कब चूकनेवाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे; कसर निकालने की बात मिली। तीन मास का भिक्षा-दंड दिया, फिर सात तीर्थ-स्थानों की यात्रा, उस पर पाँच सौ विप्रों का भोजन और पाँच गउओं का दान। बुद्धू ने सुना, तो बधिया बैठ गई। रोने लगा; तो दंड घटाकर दो मास का कर दिया। इसके सिवा कोई रिआयत न हो सकी। न कहीं अपील, न कहीं फरियाद! बेचारे को यह दण्ड स्वीकार करना पड़ा।

(६)

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपीं। लड़के छोटे थे। स्त्री अकेली क्या-क्या करती। जाकर द्वारों पर खड़ा होता, और मुँह छिपाये हुए कहता—गाय की बाछी दियो

अनयास। भिक्षा तो मिल जाती; किंतु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर, अपमान-जनक शब्द भी सुनने पड़ते। दिन को जो कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता, और वहीं पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी उससे कुछ ही अच्छा मिलता था; पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी; पर करे क्या?

दो महीने के बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना, मानों साठ वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थ-यात्रा के लिए रुपयों का प्रबंध करना था। गड़रियों को कौन महाजन क़र्ज़ दे? भेड़ों का भरोसा क्या? कभी-कभी रोग फैलता है, तो रात-भर में दल-का-दल साफ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना, जब भेड़ों से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राज़ी भी हुआ, तो दो आना रुपया ब्याज पर। आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो जायगा। यहाँ कर्ज़ लेने की हिम्मत न पड़ी, इधर दो महीने में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँववाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते, और पीछे मारकर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड़ न सकते और देख भी लेते, तो लड़ें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुलाया और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। पाँच सौ रुपये हाथ लगे। उसमें से दो सौ रुपये लेकर वह तीर्थ-यात्रा करने गया। शेष रुपये ब्रह्मभोज आदि के लिए छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार सेंध लगी; पर यह कुशल हुई कि जगहग हो जाने के कारण रुपये बच गये।

(७)

सावन का महीना था। चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बँटाई पर दे दिये थे। बुद्धू प्रायश्चित्त से निवृत्त हो गया था और उसके साथ ही माया के फन्दे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता और किस लिए जलता?

सन की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था। शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हजारों मजदूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मजदूरी के पैसे लेकर घर आता, और रात-भर रहकर सवेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मजदूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा, दुर्बल आदमी है; कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिए रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रखे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। राम-राम हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन-भर दोनों चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

संध्या-समय झींगुर ने पूछा—कुछ बनाओगे न ?

बुद्धू—नहीं तो खाऊँगा क्या ?

झींगुर—मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे।

बुद्धू—इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं; इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।

झींगुर—तवा भी तो नहीं है ?

बुद्धू—तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माजे लेता हूँ।

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की शिला पर लेटे और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—जानता हूँ। थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—बछिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।

बुद्धू ने वैसे ही भाव से कहा—जानता हूँ।

फिर दोनों सो गये।

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिदअलीशाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता, तो कोई अफ़ीम की पिनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमें, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचारशक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी नहीं खाली है)। इसलिए अगर मिर्ज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचार-शील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं। जीविका की कोई चिन्ता न थी, घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आखिर और करते ही क्या! प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाव-पेंच होने लगते। फिर खबर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि

बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जाद अली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था; इसलिए उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी कि मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, मुहल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन-दुनिया किसी के काम का नहीं रहता, न घर का, न घट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्ज़ा को बेगम साहब का इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं, पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था, वह सोती ही रहती थीं; तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी और रात को जब सो जाती थीं तब कहीं मिर्ज़ाजी भीतर आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या, पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जायँ। खाने की भी फुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायँ चाहे कुत्ते को खिलायें; पर रूबरू वह भी कुछ न कर सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इल्ज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहब के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर। लौंडी गई तो मिर्ज़ाजी ने कहा—चल, अभी आते हैं। बेगम साहब का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंडी से कहा—जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी। मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे। दो ही किस्तों में मीर साहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न! औरतें नाज़ुक-मिज़ाज होती ही हैं।

मिर्ज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ? दो किस्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे

बैठे रहें, और मात हो जाय; पर जाइए, सुन आइए। क्यों खामख्वाह उनका दिल दुखाइएगा?

मिर्ज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिर्ज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ, सिर दर्द खाक नहीं है मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी खातिर तो करनी पड़ेगी।

मिर्ज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हर्गिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आयेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गये, तो बेगम साहब ने त्योरियाँ बदलकर; लेकिन कराहते हुए कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो!

मिर्ज़ा—क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं, या सबका सफ़ाया कर डाला?

मिर्ज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुतकार क्यों नहीं देते?

मिर्ज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हूँ। नाराज़ हो जायँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइए।

मिर्ज़ा—हाँ-हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना! ज़लील करना चाहती हो क्या! ठहर हिरिया, कहाँ जाती है?

बेगम—जाने क्यों नहीं देते ? मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानूँ !

यह कहकर बेगम साहब झल्लाई हुई दीवानखाने की तरफ़ चलीं। मिर्ज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—खुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय ; लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानखाने के द्वार तक गईं ; पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झाँका। संयोग से कमरा खाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिये थे और अपनी सफ़ाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुँचकर बाजी उलट दी ; मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिये, कुछ बाहर और किवाड़े अन्दर से बन्द करके कुण्डी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही। मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बन्द हुआ, तो समझ गये, बेगम साहब बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिर्ज़ा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया !

बेगम—अब मीर साहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते तो क्या ग़रीब हो जाते ! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ ! ले, जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी तामुल है ?

मिर्ज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और सारा वृत्तान्त कहा। मीर साहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं ; मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है। यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इन्तज़ाम करना उनका काम है, दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार ?

मिर्ज़ा—ख़ैर यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा ?

मीर—इसका क्या ग़म ? इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमे।

मिर्ज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा ? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं ; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िन्दा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी, पड़ने भी दीजिए। दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गंभीर है; लेकिन जब दीवानखाने में बिसात बिछने लगी और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी काना-फूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी। घड़ी-आध घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है; इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई-न-कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है; मगर क्या करें। इस पर बेगम साहब कहतीं—मैं तो खुद इसको पसन्द नहीं करती; पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली आती थी और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विलासिता के अन्य अङ्गों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गये। नये-नये नक़शे हल किये जाते; नये-नये क़िले बनाये जाते; नित नई व्यूहरचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झोड़ हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते; मीर साहब अपने घर में जा बैठते; पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज की दलदल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये। यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किसलिए हुई! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती। घर के दरवाज़े बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो, घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ? हुज़ूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा!

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा! साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिर्ज़ाजी से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा?

मिर्ज़ा—बड़ी मुसीबत है, कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कम्बख्त कल फिर आने को कह गया है।

मिर्ज़ा—आफ़त है और क्या। कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यह एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे खबर होगी? हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिर्ज़ा—वल्लाह, आपको खूब सूझी! इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं—तुमने खूब धता बताई, उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।

(४)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे गोमती पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दुकान पर जाकर खाना खा आते और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी खयाल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं

किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ्त में ही हजम करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मीर साहब की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मिर्ज़ा उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। यह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीर साहब बोले—अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है, खुदा ख़ैर करे।

मिर्ज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिए—यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिर्ज़ा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त!

मीर—तोपखाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे जवान हैं। बन्दरों के-से मुँह हैं। सूरत देखकर खौफ़ मालूम होता है।

मिर्ज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा—यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी खबर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?

मिर्ज़ा—जब घर चलने का वक्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त। बस, अबकी शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था, फिर बाज़ी बिछ गई।

मिर्ज़ा बोले—आज खाने की कैसी ठहरेगी?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है!

मिर्ज़ा—जी नहीं। शहर में न जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अबकी मिर्ज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये

जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मारकाट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिर्ज़ा ने कहा—हुजूर नवाब साहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह!

मिर्ज़ा—जनाब, ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त!

मिर्ज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है!

मीर—हाँ, सो तो है ही—यह लो, फिर किश्त! बस, अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिर्ज़ा—ख़ुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुःख नहीं होता। हाय ग़रीब वाजिदअली शाह!

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ।

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिर्ज़ा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें; लेकिन मिर्ज़ाजी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई, खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोंसलों में चिमटीं; पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानों दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिर्ज़ाजी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे, इस चौथी बाजी का भी रंग अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके

सँभालकर खेलते थे, लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी खराब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी, उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानों कोई गुप्त धन पा गये हों। मिर्ज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार को झेंप मिटाने के लिए उनको दाद देते थे, पर ज्यों ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—जनाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल दीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रखे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पांच मिनट से ज्यादा लगे, उसकी मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी?

मिर्ज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में।

मीर—उस घर में क्यों रखूँ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था?

मिर्ज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फ़रज़ पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे!

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिर्ज़ा—तो इस बाज़ी में आपको मात हो गई?

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी।

मिर्ज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रखा था।

मीर—वहाँ क्यों रखूँ? नहीं रखता।

मिर्ज़ा—क्यों न रखिएगा? आपको रखना ही होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे; न यह दबता था, न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये, आप शतरंज

क्या खेलिएगा ! रियासत और ही चीज़ है । जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता ।

मीर—क्या ! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे ! यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं ।

मिर्ज़ा—अजी जाइए भी, गाजिउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं । रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं ।

मीर—क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह कालिख लगाते हो—वे ही बावर्ची का काम करते होंगे । यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आये हैं ।

मिर्ज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर ।

मीर—ज़बान सँभालिए, वर्ना बुरा होगा । मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ । यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं । है हौसला ?

मिर्ज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो-दो हाथ हो जायँ, इधर या उधर ।

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं । नवाबी ज़माना था ; सभी तलवार, पेशकब्ज़, कटार वग़ैरह बाँधते थे । दोनों विलासी थे ; पर कायर न थे । उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें ? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था । दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं । दोनों ज़ख्म खाकर गिरे और दोनों ने वहीं तड़पकर जानें दे दीं । अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्होंने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिये ।

अँधेरा हो चला था । बाज़ी बिछी हुई थी । दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानों इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे ।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था । खँडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं ।

पंच-परमेश्वर

जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन में भी साझा था। एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गये थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गये थे और अलगू जब कभी बाहर जाते, तो जुम्मन पर अपना घर छोड़ देते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता; केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूल-मंत्र भी यही है।

इस मित्रता का जन्म उसी समय हुआ, जब दोनों मित्र बालक ही थे और जुम्मन के पूज्य पिता, जुमराती, उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। अलगू ने गुरुजी की बहुत सेवा की थी, खूब रकाबियाँ माँजी, खूब प्याले धोये। उनका हुक्का एक क्षण के लिए भी विश्राम न लेने पाता था; क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आध घंटे तक किताबों से अलग कर देती थी। अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। उन्हें शिक्षा की अपेक्षा गुरु की सेवा-शुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। वह कहते थे कि विद्या पढ़ने से नहीं आती; जो कुछ होता है, गुरु के आशीर्वाद से। बस, गुरुजी की कृपा-दृष्टि चाहिए। अतएव यदि अलगू पर जुमराती शेख के आशीर्वाद अथवा सत्संग का कुछ फल न हुआ, तो यह मानकर सन्तोष कर लेगा कि विद्योपार्जन में मैंने यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखी; विद्या उसके भाग ही में न थी, तो कैसे आती?

मगर जुमराती शेख स्वयं आशीर्वाद के कायल न थे। उन्हें अपने सोटे पर अधिक भरोसा था और उसी सोटे के प्रताप से आज आसपास के गाँवों में जुम्मन की पूजा होती थी। उनके लिखे हुए रेहननामे या बैनामे पर कचहरी का मुहर्रिर भी कलम न उठा सकता था। हल्के का डाकिया, कांस्टेबिल और तहसील का चपरासी — सब उनकी कृपा की आकांक्षा रखते थे। अतएव अलगू का मान उसके धन के कारण था, तो जुम्मन शेख अपनी अनमोल विद्या से ही सबके आदर-पात्र बने थे।

(२)

जुम्मन शेख की एक बूढ़ी ख़ाला (मौसी) थी। उसके पास कुछ थोड़ी-सी मिलकियत थी; परन्तु उसके निकट संबंधियों में कोई न था। जुम्मन ने लम्बे-चौड़े वादे करके वह मिलकियत अपने नाम लिखवा ली थी। जब तक दान-पत्र की रजिस्ट्री न हुई थी, तब तक ख़ालाजान का ख़ूब आदर-सत्कार किया गया। उन्हें ख़ूब स्वादिष्ट पदार्थ खिलाये गये। हलवे-पुलाव की वर्षा-सी की गई; पर रजिस्ट्री की मोहर ने इन ख़ातिरदारियों पर भी मानों मुहर लगा दी। जुम्मन की पत्नी—करीमन—रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज-तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख़ भी निठुर हो गये। अब बेचारी ख़ालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थीं—

बुढ़िया न जाने कब तक जियेगी। दो-तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया, मानो मोल ले लिया है! बघारी दाल के बिना रोटियाँ नहीं उतरतीं! जितना रुपया इसके पेट में झोंक चुके, उतने से तो अब तक गाँव मोल ले लेते।

कुछ दिन ख़ालाजान ने सुना और सहा; पर जब न सहा गया, तब जुम्मन से शिकायत की। जुम्मन ने स्थानीय कर्मचारी—गृहस्वामिनी—के प्रबन्ध में दख़ल देना उचित न समझा। कुछ दिन तक और यों ही रो-धोकर काम चलता रहा। अन्त को एक दिन ख़ाला ने जुम्मन से कहा—बेटा! तुम्हारे साथ मेरा निबाह न होगा। तुम मुझे रुपये दे दिया करो, मैं अपना पका-खा लूँगी।

जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया—रुपये क्या यहाँ फलते हैं? ख़ाला ने नम्रता से कहा—मुझे कुछ रूखा-सूखा चाहिए भी कि नहीं? जुम्मन ने गम्भीर स्वर से जवाब दिया—तो कोई यह थोड़े ही समझा था कि तुम मौत से लड़कर आई हो?

ख़ाला बिगड़ गईं, उन्होंने पंचायत करने की धमकी दी। जुम्मन हँसे, जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ़ जाते देखकर मन-ही-मन हँसता है। वह बोले—हाँ, ज़रूर पंचायत करो। फैसला हो जाय। मुझे भी यह रात-दिन की खटपट पसन्द नहीं।

पंचायत में किसकी जीत होगी, इस विषय में जुम्मन को कुछ भी सन्देह न था। आस-पास के गाँवों में ऐसा कौन था, जो उनके अनुग्रहों का ऋणी न

ह ऐसा कौन था, जो उनको शत्रु बनाने का साहस कर सके? किसमें इतना बल था, जो उनका सामना कर सके? आसमान के फ़रिश्ते तो पंचायत करने आवेंगे ही नहीं।

(३)

इसके बाद कई दिन तक बूढ़ी खाला हाथ में एक लकड़ी लिये आस-पास के गाँवों में दौड़ती रहीं। कमर झुककर कमान हो गई थी। एक-एक पग चलना दूभर था; मगर बात आ पड़ी थी। उसका निर्णय करना ज़रूरी था।

बिरला ही कोई भला आदमी होगा, जिसके सामने बुढ़िया ने दुःख के आँसू न बहाये हों। किसी ने तो यों ही ऊपरी मन से हूँ-हाँ करके टाल दिया और किसी ने इस अन्याय पर ज़माने को गालियाँ दीं। कहा—क़ब्र में पाँव लटके हुए हैं, आज मरे, कल दूसरा दिन; पर हवस नहीं मानती। अब तुम्हें क्या चाहिए? रोटी खाओ और अल्लाह का नाम लो। तुम्हें अब खेती-बारी से क्या काम? कुछ ऐसे सज्जन भी थे, जिन्हें हास्य-रस के रसास्वादन का अच्छा अवसर मिला। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, सन के-से बाल। जब इतनी सामग्रियाँ एकत्र हों, तब हँसी क्यों न आवे? ऐसे न्यायप्रिय, दयालु, दीनवत्सल पुरुष बहुत कम थे, जिन्होंने उस अबला के दुखड़े को गौर से सुना हो और उसको सांत्वना दी हो। चारों ओर से घूम-घामकर बेचारी अलगू चौधरी के पास आई। लाठी पटक दी और दम लेकर बोली—बेटा, तुम भी दम-भर के लिए मेरी पंचायत में चले आना।

अलगू—मुझे बुलाकर क्या करोगी? कई गाँव के आदमी तो आवेंगे ही।

खाला—अपनी बिपत तो सबसे आगे रो आई। अब आने-न आने का अख्तियार उनको है।

अलगू—यों आने को आ जाऊँगा; मगर पंचायत में मुँह न खोलूँगा।

खाला—क्यों बेटा?

अलगू—अब इसका क्या जवाब दूँ? अपनी खुशी! जुम्मन मेरा पुराना मित्र है। उससे बिगाड़ नहीं कर सकता।

खाला—बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?

हमारे सोये हुए धर्म-ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाय, तो उसे खबर नहीं होती; परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं

सकता। अलगू इस सवाल का कोई उत्तर न दे सका, पर उसके हृदय में ये शब्द गूँज रहे थे —

क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?

(४)

संध्या समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले से ही फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के-तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था। हाँ, वह स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ जरा दूर पर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता था, तब दबे हुए सलाम से उसका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलरवयुक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब यहाँ भी पंचायत शुरू हुई। फर्श की एक-एक अंगुल जमीन भर गई। पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में से केवल वे ही लोग पधारे थे, जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। वह निर्णय करना असंभव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआँ निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौज करते और कोई रोते थे। चारों तरफ कोलाहल मच रहा था। गाँव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झुण्ड-के झुण्ड जमा हो गये थे।

पंच लोग बैठ गये, तो बूढ़ी खाला ने उनसे विनती की—

'पंचो, आज तीन साल हुए, मैंने अपनी सारी जायदाद अपने भानजे जुम्मन के नाम लिख दी थी। इसे आप लोग जानते ही होंगे। जुम्मन ने मुझे ताहयात रोटी-कपड़ा देना कबूल किया। साल-भर तो मैंने इसके साथ रो-धोकर काटा। पर अब रात-दिन का रोना नहीं सहा जाता। मुझे न पेट की रोटी मिलती है और न तन का कपड़ा। बेकस बेवा हूँ। कचहरी-दरबार नहीं कर सकती। तुम्हारे सिवा और किससे अपना दुःख सुनाऊँ? तुम लोग जो राह निकाल दो, उसी राह पर चलूँ। अगर मुझमें कोई ऐब देखो, तो मेरे मुँह पर थप्पड़ मारो। जुम्मन में बुराई देखो, तो उसे समझाओ, क्यों एक बेकस की आह लेता है। मैं पंचों का हुक्म सिर-माथे पर चढ़ाऊँगी।'

रामधन मिश्र, जिनके कई असामियों को जुम्मन ने अपने गाँव में बसा लिया

था, बोले—जुम्मन मियाँ, किसे पंच बदते हो ? अभी से इसका निपटारा कर लो। फिर जो कुछ पंच कहेंगे, वही मानना पड़ेगा।

जुम्मन को इस समय सदस्यों में विशेषकर वे ही लोग दीख पड़े, जिनसे किसी-न-किसी कारण उनका वैमनस्य था। जुम्मन बोले—पंच का हुक्म अल्लाह का हुक्म है। खालाजान जिसे चाहें, उसे बदें, मुझे कोई उज्र नहीं।

खाला ने चिल्लाकर कहा—अरे अल्लाह के बन्दे! पंचों का नाम क्यों नहीं बता देता ? कुछ मुझे भी तो मालूम हो।

जुम्मन ने क्रोध से कहा—अब इस वक्त मेरा मुँह न खुलवाओ। तुम्हारी बन पड़ी है, जिसे चाहो पंच बदो।

खालाजान जुम्मन के आक्षेप को समझ गईं; वह बोलीं—बेटा खुदा से डरो। पंच न किसी के दोस्त होते हैं, न किसी के दुश्मन। कैसी बात कहते हो! और तुम्हारा किसी पर विश्वास न हो, तो जाने दो; अलगू चौधरी को तो मानते हो ? लो, मैं उन्हीं को सरपंच बदती हूँ।

जुम्मन शेख आनन्द से फूल उठे; परन्तु भावों को छिपाकर बोले—अलगू चौधरी ही सही, मेरे लिए जैसे रामधन मिसिर वैसे अलगू।

अलगू इस झमेले में फँसना नहीं चाहते थे। वे कन्नी काटने लगे। बोले—खाला, तुम जानती हो कि मेरी जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है।

खाला ने गंभीर स्वर से कहा—बेटा, दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में खुदा बसता है। पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ से निकलती है।

अलगू चौधरी सरपंच हुए। रामधन मिश्र और जुम्मन के दूसरे विरोधियों ने बुढ़िया को मन में बहुत कोसा।

अलगू चौधरी बोले—शेख जुम्मन! हम और तुम पुराने दोस्त हैं! जब काम पड़ा, तुमने हमारी मदद की है और हम भी जो कुछ बन पड़ा, तुम्हारी सेवा करते रहे हैं; मगर इस समय तुम और बूढ़ी खाला, दोनों हमारी निगाह में बराबर हो। तुमको पंचों से जो कुछ अर्ज करनी हो, करो।

जुम्मन को पूरा विश्वास था कि अब बाज़ी मेरी है। अलगू यह सब दिखावे की बातें कर रहा है। अतएव शांत-चित्त होकर बोले—पंचो, तीन साल हुए, खाला-

जान ने अपनी जायदाद मेरे नाम हिब्बा कर दी थी। मैंने उन्हें ताहयात खाना-कपड़ा देना कबूल किया था। खुदा गवाह है, आज तक मैंने खालाजान को कोई तकलीफ नहीं दी। मैं उन्हें अपनी माँ के समान समझता हूँ। उनकी खिदमत करना मेरा फर्ज है; मगर औरतों में जरा अनबन रहती है, इसमें मेरा क्या बस है? खालाजान मुझसे माहवार खर्च अलग माँगती हैं। जायदाद जितनी है, वह पंचों से छिपी नहीं। उससे इतना मुनाफ़ा नहीं होता कि मैं माहवार खर्च दे सकूँ। इसके अलावा हिब्बानामे में माहवार खर्च का कोई जिक्र नहीं। नहीं तो मैं भूलकर भी इस झमेले में न पड़ता। बस, मुझे यही कहना है। आइन्दा पंचों को अख्तियार है, जो फैसला चाहें, करें।

अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता था। अतएव वह पूरा कानूनी आदमी था। उसने जुम्मन से जिरह शुरू की। एक-एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौड़े की चोट की तरह पड़ता था। रामधन मिश्र इन प्रश्नों पर मुग्ध हुए जाते थे। जुम्मन चकित थे कि अलगू को हो क्या गया! अभी यह अलगू मेरे साथ बैठा हुआ कैसी-कैसी बातें कर रहा था! इतनी ही देर में ऐसी कायापलट हो गई कि मेरी जड़ खोदने पर तुला हुआ है। न मालूम कब की कसर यह निकाल रहा है। क्या इतने दिनों की दोस्ती कुछ भी काम न आवेगी?

जुम्मन शेख तो इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे कि इतने में अलगू ने फैसला सुनाया—

जुम्मन शेख! पंचों ने इस मामले पर विचार किया। उन्हें यह नीति-संगत मालूम होता है कि खालाजान को माहवार खर्च दिया जाय। हमारा विचार है कि खाला की जायदाद से इतना मुनाफा अवश्य होता है कि माहवार खर्च दिया जा सके। बस, यही हमारा फैसला है। अगर जुम्मन को खर्च देना मंजूर न हो, तो हिब्बानामा रद्द समझा जाय।

(५)

यह फैसला सुनते ही जुम्मन सन्नाटे में आ गये। जो अपना मित्र हो, वह शत्रु का व्यवहार करे और गले पर छुरी फेरे, इसे समय के हेर-फेर के सिवा और क्या कहें? जिस पर पूरा भरोसा था, उसने समय पड़ने पर धोखा दिया। ऐसे ही अवसरों पर झूठे-सच्चे मित्रों की परीक्षा की जाती है। यही कलयुग की

दोस्ती है। अगर लोग ऐसे कपटी-धोखेबाज न होते, तो देश में आपत्तियों का प्रकोप क्यों होता? यह हैजा-प्लेग आदि व्याधियाँ दुष्कर्मों के दण्ड हैं।

मगर रामधन मिश्र और अन्य पंच अलगू चौधरी की इस नीतिपरायणता की प्रशंसा जी खोलकर कर रहे थे। वे कहते थे—इसका नाम पंचायत है! दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया। दोस्ती दोस्ती की जगह है; किन्तु धर्म का पालन करना मुख्य है। ऐसे ही सत्यवादियों के बल पृथ्वी ठहरी है, नहीं तो वह कब की रसातल को चली जाती।

इस फैसले ने अलगू और जुम्मन की दोस्ती की जड़ हिला दी। अब वे साथ-साथ बातें करते नहीं दिखाई देते। इतना पुराना मित्रता-रूपी वृक्ष सत्य का एक झोंका भी न सह सका। सचमुच वह बालू की ही ज़मीन पर खड़ा था।

उनमें अब शिष्टाचार का अधिक व्यवहार होने लगा। एक दूसरे की आवभगत ज़्यादा करने लगा। वे मिलते-जुलते थे, मगर उसी तरह, जैसे तलवार से ढाल मिलती है।

जुम्मन के चित्त में मित्र की कुटिलता आठों पहर खटका करती थी। उसे हर घड़ी यही चिन्ता रहती थी कि किसी तरह बदला लेने का अवसर मिले।

(६)

अच्छे कामों की सिद्धि में बड़ी देर लगती है; पर बुरे कामों की सिद्धि में यह बात नहीं होती; जुम्मन को भी बदला लेने का अवसर जल्द ही मिल गया। पिछले साल अलगू चौधरी बटेसर से बैलों की एक बहुत अच्छी गोईं मोल लाये थे। बैल पछाहीं जाति के सुन्दर, बड़े-बड़े सींगोंवाले थे। महीनों तक आस-पास के गाँवों के लोग उनके दर्शन करते रहे। दैवयोग से जुम्मन की पंचायत के एक महीने बाद इस जोड़ी का एक बैल मर गया। जुम्मन ने दोस्तों से कहा—यह दग़ाबाज़ी की सजा है। इन्सान सब्र भले ही कर जाय; पर खुदा नेक-बद सब देखता है। अलगू को सन्देह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दिला दिया है। चौधराइन ने भी जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोप किया। उसने कहा—जुम्मन ने कुछ कर-करा दिया है। चौधराइन और करीमन में इस विषय पर एक दिन खूब ही वाद-विवाद हुआ। दोनों देवियों ने शब्द-बाहुल्य की नदी बहा दी। व्यंग्य, वक्रोक्ति, अन्योक्ति और उपमा आदि अलंकारों में बातें हुईं। जुम्मन ने

किसी तरह शान्ति स्थापित की। उन्होंने अपनी पत्नी को डाँट-डपटकर समझा दिया। वह उसे उस रणभूमि से हटा भी ले गये। उधर अलगू चौधरी ने समझाने-बुझाने का काम अपने तर्क-पूर्ण सोंटे से लिया।

अब अकेला बैल किस काम का? उसका जोड़ बहुत ढूँढ़ा गया; पर न मिला। निदान यह सलाह ठहरी कि इसे बेच डालना चाहिए। गाँव में एक समझू साहु थे, वह इक्का-गाड़ी हाँकते थे। गाँव से गुड़ घी लादकर मण्डी ले जाते, मण्डी से तेल-नमक भर लाते और गाँव में बेचते। इस बैल पर उनका मन लहराया। उन्होंने सोचा, यह बैल हाथ लगे, तो दिन-भर में बेखटके तीन खेप हों। आज-कल तो एक ही खेप के लाले पड़े रहते हैं। बैल देखा, गाड़ी में दौड़ाया, बाल-भौंरी की पहचान कराई, मोल-तोल किया और उसे लाकर द्वार पर बाँध ही दिया। एक महीने में दाम चुकाने का वादा ठहरा। चौधरी को भी गरज़ थी ही, घाटे की परवा न की।

समझू साहु ने नया बैल पाया, तो लगे उसे रगेदने। वह दिन में तीन-तीन, चार-चार खेपें करने लगे। न चारे की फ़िक्र थी, न पानी की; बस, खेपों से काम था। मंडी ले गये, वहाँ कुछ सूखा भूसा सामने डाल दिया। बेचारा जानवर अभी दम भी न लेने पाया था कि फिर जोत दिया। अलगू चौधरी के घर था, तो चैन की बंसी बजती थी। बैलराम छठे-छमाहे कभी बहली में जोते जाते थे। तब खूब उछलते-कूदते और कोसों तक दौड़ते चले जाते थे। वहाँ बैलराम का रातिब था, साफ पानी, दली हुई अरहर की दाल और भूसे के साथ खली, और यही नहीं, कभी-कभी घी का स्वाद भी चखने को मिल जाता था। शाम-सवेरे एक आदमी खरहरे करता, पोंछता और सहलाता था। कहाँ वह सुख-चैन, कहाँ यह आठों पहर की खपन! महीने-भर ही में वह पिस सा गया। इक्के का जुआ देखते ही उसका लहू सूख जाता था। एक-एक पग चलना दूभर था। हड्डियाँ निकल आई थीं; पर था वह पानीदार, मार की बरदाश्त न थी।

एक दिन चौथी खेप में साहुजी ने दूना बोझा लादा। दिन-भर का थका जानवर, पैर न उठते थे। उस पर साहुजी कोड़े फटकारने लगे। बस, फिर क्या था, बैल कलेजा तोड़कर चला। कुछ दूर दौड़ा और चाहा कि ज़रा दम ले लूँ; पर साहुजी को जल्द पहुँचने की फ़िक्र थी; अतएव उन्होंने कई कोड़े बड़ी निर्दयता से फटकारे। बैल ने एक बार फिर ज़ोर लगाया; पर अबकी बार शक्ति ने जवाब दे दिया। वह धरती

पर गिर पड़ा, और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। साहूजी ने बहुत पीटा, टाँग पकड़कर खींचा, नथनों में लकड़ी ठूँस दी; पर कहीं मृतक भी उठ सकता है? तब साहुजी को कुछ शंका हुई। उन्होंने बैल को गौर से देखा, खोलकर अलग किया; और सोचने लगे कि गाड़ी कैसे घर पहुँचे। बहुत चीखे-चिल्लाये; पर देहात का रास्ता बच्चों की आँख की तरह साँझ होते ही बन्द हो जाता है। कोई नजर न आया। आस-पास कोई गाँव भी न था। मारे क्रोध के उन्होंने मरे हुए बैल पर और दुर्रे लगाये और कोसने लगे—अभागे! तुझे मरना ही था, तो घर पहुँचकर मरता! ससुरा बीच रास्ते ही में मर रहा! अब गाड़ी कौन खींचे? इस तरह साहुजी खूब जले-भुने। कई बोरे गुड़ और कई पीपे घी उन्होंने बेचे थे, दो ढाई-सौ रुपये कमर में बँधे थे। इसके सिवा गाड़ी पर कई बोरे नमक के थे; अतएव छोड़कर जा भी न सकते थे। लाचार, बेचारे गाड़ी पर ही लेट गये। वहीं रतजगा करने की ठान ली। चिलम पी, गाया, फिर हुक्का पिया। इस तरह साहुजी आधी रात तक नींद को बहलाते रहे। अपनी जान में तो वह जागते ही रहे; पर पौ फटते ही जो नींद टूटी और कमर पर हाथ रखा, तो थैली गायब! घबराकर इधर-उधर देखा, तो कई कनस्तर तेल भी नदारत! अफसोस में बेचारे ने सिर पीट लिया और पछाड़ खाने लगा। प्रातःकाल रोते-बिलखते घर पहुँचे। सहुआइन ने जब यह बुरी सुनावनी सुनी, तब पहले रोई, फिर अलगू चौधरी को गालियाँ देने लगी—निगोड़े ने ऐसा कुलच्छनी बैल दिया कि जन्म भर की कमाई लुट गई!

इस घटना को हुए कई महीने बीत गये। अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते तब साहु और सहुआइन, दोनों ही झल्लाये हुए कुत्तों की तरह चढ़ बैठते और अंड-बंड बकने लगते—वाह! यहाँ तो सारे जन्म की कमाई लुट गई, सत्यानाश हो गया; इन्हें दामों की पड़ी है! मुर्दा बैल दिया था, उस पर दाम माँगने चले हैं! आँखों में धूल झोंक दी, सत्यानाशी बैल गले बाँध दिया, हमें निरा पोंगा ही समझ लिया! हम भी बनिये के बच्चे हैं, ऐसे बुद्धू कहीं और होंगे। पहले जाकर किसी गड्ढे में मुँह धो आओ, तब दाम लेना। न जी मानता हो, तो हमारा बैल खोल ले जाओ। महीना-भर के बदले दो महीना जोत लो। और क्या लोगे?

चौधरी के अशुभचिन्तकों की कमी न थी। ऐसे अवसरों पर वे भी एकत्र हो जाते और साहुजी के बर्राने की पुष्टि करते। परन्तु डेढ़ सौ रुपयों से इस तरह हाथ

को लेना आसान न था। एक बार वह भी गरम पड़े। साहुजी बिगड़कर लाठी ढूँढ़ने घर चले गये। अब सहुआइनजी ने मैदान लिया। प्रश्नोत्तर होते-होते हाथा-पाई की नौबत आ पहुँची। सहुआइन ने घर में घुसकर किवाड़ें बन्द कर लिये। शोर-गुल सुनकर गाँव के भलेमानस जमा हो गये। उन्होंने दोनों को समझाया। साहुजी को दिलासा देकर घर से निकाला। वह परामर्श देने लगे कि इस तरह सिर-फुटौवल से काम न चलेगा। पंचायत कर लो। जो कुछ तय हो जाय, उसे स्वीकार कर लो। साहुजी राजी हो गये। अलगू ने भी हामी भर ली।

(७)

पंचायत की तैयारियाँ होने लगीं। दोनों पक्षों ने अपने-अपने दल बनाने शुरू किये। इसके बाद तीसरे दिन उसी वृक्ष के नीचे फिर पंचायत बैठी। वही संध्या का समय था। खेतों में कौए पंचायत कर रहे थे। विवाद-ग्रस्त विषय यह था कि मटर की फलियों पर उनका कोई स्वत्व है या नहीं; और जब तक यह प्रश्न हल न हो जाय, तब तक वे रखवाल की पुकार पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक समझते थे। पेड़ की डालियों पर बैठी शुक-मण्डली में यह प्रश्न छिड़ा हुआ था कि मनुष्यों को उन्हें बेमुरौवत कहने का क्या अधिकार है, जब उन्हें स्वयं अपने मित्रों से दगा करने में भी संकोच नहीं होता।

पंचायत बैठ गई, तो रामधन मिश्र ने कहा—अब देरी क्यों है? पंचों का चुनाव हो जाना चाहिए। बोलो चौधरी, किस-किस को पंच बदते हो?

अलगू ने दीन भाव से कहा—समझू साहु ही चुन लें।

समझू खड़े हुए और कड़ककर बोले—मेरी ओर से जुम्मन शेख।

जुम्मन का नाम सुनते ही अलगू चौधरी का कलेजा धक्-धक् करने लगा, मानों किसी ने अचानक थप्पड़ मार दिया हो। रामधन अलगू के मित्र थे। वह बात को ताड़ गये। पूछा—क्यों चौधरी, तुम्हें कोई उज्र तो नहीं?

चौधरी ने निराश होकर कहा—नहीं, मुझे क्या उज्र होगा?

* * * *

अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

पत्र-सम्पादक अपनी शान्ति कुटी में बैठा हुआ कितनी धृष्टता और स्वतन्त्रता के साथ अपनी प्रबल लेखनी से मन्त्रि-मण्डल पर आक्रमण करता है; परन्तु ऐसे अवसर आते हैं, जब वह स्वयं मन्त्रि-मण्डल में सम्मिलित होता है। मण्डल के भवन में पग धरते ही उसकी लेखनी कितनी मर्मज्ञ कितनी विचारशील, कितनी न्याय-परायण हो जाती है, इसका कारण उत्तरदायित्व का ज्ञान है। नवयुवक युवावस्था में कितना उद्दण्ड रहता है। माता-पिता उसकी ओर से कितने चिंतित रहते हैं। वे उसे कुल-कलंक समझते हैं; परन्तु थोड़े ही समय में परिवार का बोझ सिर पर पड़ते ही वही अव्यवस्थित-चित्त उन्मत्त युवक कितना धैर्यशील, कैसा शान्त-चित्त हो जाता है, यह भी उत्तरदायित्व के ज्ञान का फल है।

जुम्मन शेख के मन में भी सरपंच का उच्च स्थान ग्रहण करते ही अपनी ज़िम्मेदारी का भाव पैदा हुआ। उसने सोचा, मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा, वह देववाणी के सदृश है— और देववाणी में मेरे मनोविकारों का कदापि समावेश न होना चाहिए, मुझे सत्य से जौ-भर भी टलना उचित नहीं!

पंचों ने दोनों पक्षों से सवाल-जवाब करने शुरू किये। बहुत देर तक दोनों दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। इस विषय में तो सब सहमत थे कि समझू को बैल का मूल्य देना चाहिए; परन्तु दो महाशय इस कारण रिआयत करना चाहते थे कि बैल के मर जाने से समझू को हानि हुई। इसके प्रतिकूल दो सभ्य मूल के अतिरिक्त समझू को दण्ड भी देना चाहते थे, जिससे फिर किसी को पशुओं के साथ ऐसी निर्दयता करने का साहस न हो। अन्त में जुम्मन ने फैसला सुनाया—

अलगू चौधरी और समझू साहु! पंचों ने तुम्हारे मामले पर अच्छी तरह विचार किया। समझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दें। जिस वक्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिये जाते, तो आज समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम लिया गया और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबन्ध न किया गया।

रामधन मिश्र बोले — समझू ने बैल को जान-बूझकर मारा है, अतएव उससे दण्ड लेना चाहिए।

जुम्मन बोले—यह दूसरा सवाल है। हमको इससे कोई मतलब नहीं।

झगड़ू साहु ने कहा—समझू के साथ कुछ रियायत होनी चाहिए।

जुम्मन बोले—यह अलगू चौधरी की इच्छा पर निर्भर है। वह रियायत करें, तो उनकी भलमनसी है।

अलगू चौधरी फूले न समाये। उठ खड़े हुए और जोर से बोले—पंच-परमेश्वर की जय!

इसके साथ ही चारों ओर से प्रतिध्वनि हुई—पंच-परमेश्वर की जय!

प्रत्येक मनुष्य जुम्मन की नीति को सराहता था—इसे कहते हैं न्याय! यह मनुष्य का काम नहीं, पंच में परमेश्वर वास करते हैं, यह उन्हीं की महिमा है। पंच के सामने खोटे को कौन खरा कर सकता है?

थोड़ी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आये और उनके गले लिपटकर बोले—भैया, जब से तुमने मेरी पंचायत की तब से मैं तुम्हारा प्राण-घातक शत्रु बन गया था; पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जबान से खुदा बोलता है।

अलगू रोने लगे। इस पानी से दोनों के दिलों का मैल धुल गया। मित्रता की मुरझाई हुई लता फिर हरी हो गई।

———

शंखनाद

भानु चौधरी अपने गाँव के मुखिया थे। गाँव में उनका बड़ा मान था। दारोगाजी उन्हें टाट बिना ज़मीन पर न बैठने देते। मुखिया साहब की ऐसी धाक बँधी हुई थी कि उनकी मर्ज़ी बिना गाँव में एक पत्ता भी नहीं हिल सकता था। कोई घटना, चाहे वह सास बहू का विवाद हो, चाहे मेड़ या खेत का झगड़ा, चौधरी साहब के शासनाधिकार को पूर्ण रूप से सचेत करने के लिए काफ़ी थी। वह तुरन्त घटनास्थल पर जा पहुँचते, तहक़ीक़ात होने लगती, गवाह और सबूत के सिवा किसी अभियोग को सफलता सहित चलाने में जिन बातों की ज़रूरत होती है, उन सब पर विचार होता और चौधरीजी के दरबार से फैसला हो जाता। किसी को अदालत जाने की ज़रूरत न पड़ती। हाँ, इस कष्ट के लिए चौधरी साहब कुछ फीस ज़रूर लेते थे। यदि किसी अवसर पर फ़ीस मिलने में असुविधा के कारण उन्हें धीरज से काम लेना पड़ता तो गाँव में आफ़त मच जाती थी; क्योंकि उनके धीरज और दारोगाजी के क्रोध में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध था। सारांश यह कि चौधरी से उनके दोस्त-दुश्मन सभी चौकन्ने रहते थे।

(२)

चौधरी महाशय के तीन सुयोग्य पुत्र थे। बड़े लड़के बितान एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिये के रजिस्टर पर दस्तख़त कर लेते थे। बड़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीतिकुशल। मिर्ज़ई की जगह कमीज पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता था। यद्यपि उनके ये दुर्व्यसन बूढ़े चौधरी को नापसन्द थे, पर बेचारे विवश थे; क्योंकि अदालत और क़ानून के मामले बितान के हाथों में थे। वह क़ानून का पुतला था। क़ानून की दफ़ाएँ ज़बान पर रखी रहती थीं। गवाह गढ़ने में वह पूरा उस्ताद था। मझले लड़के शान चौधरी कृषि-विभाग के अधिकारी थे। बुद्धि के मन्द; लेकिन शरीर से बड़े परिश्रमी। जहाँ घास न जमती हो, वहाँ केसर जमा दें। तीसरे लड़के का नाम गुमान था; वह बड़ा रसिक, साथ ही उद्दण्ड भी था। मुहर्रम में ढोल इतने ज़ोरों से बजाता कि कान के पर्दे फट जाते। मछली

फहराने का बड़ा शौक़ीन था। बड़ा रँगीला जवान था। खँजड़ी बजा-बजाकर जब वह मीठे स्वर से ख़याल गाता, तो रंग जम जाता। उसे दंगल का ऐसा शौक़ था कि कोसों तक धावा मारता; पर घरवाले कुछ ऐसे शुष्क थे कि उसके इन व्यसनों से तनिक भी सहानुभूति न रखते थे। पिता और भाइयों ने तो उसे ऊसर खेत समझ रखा था। घुड़की-धमकी, शिक्षा और उपदेश, स्नेह और विनय, किसी का उस पर कुछ भी असर न हुआ। हाँ, भावजें अभी तक उसकी ओर से निराश न हुई थीं; वे अभी तक उसे कड़वी दवाइयाँ पिलाये जाती थीं; पर आलस्य वह राज-रोग है, जिसका रोगी कभी नहीं सँभलता। ऐसा कोई बिरला ही दिन जाता होगा कि बाँके गुमान को भावजों के कटुवाक्य न सुनने पड़ते हों। ये विषैले शर कभी-कभी उसके कठोर हृदय में भी चुभ जाते; किन्तु यह घाव रात-भर से अधिक न रहता। भोर होते ही थकान के साथ ही यह पीड़ा भी शान्त हो जाती। तड़का हुआ; उसने हाथ-मुँह धोया, बंसी उठाई और तालाब की ओर चल खड़ा हुआ। भावजें फूलों की वर्षा किया करतीं, बूढ़े चौधरी पैंतरे बदलते रहते और भाई लोग तीखी निगाह से देखा करते; पर अपनी धुन का पूरा बाँका गुमान उन लोगों के बीच से इस तरह अकड़ता चला जाता, जैसे कोई मस्त हाथी कुत्तों के बीच से निकल जाता है। उसे सुमार्ग पर लाने के लिए क्या-क्या उपाय नहीं किये गये। बाप समझाता—बेटा, ऐसी राह चलो, जिसमें तुम्हें भी पैसे मिलें और गृहस्थी का भी निबाह हो। भाइयों के भरोसे कब तक रहोगे? मैं पका आम हूँ—आज टपक पड़ूँ या कल। फिर तुम्हारा निबाह कैसे होगा? भाई बात भी न पूछेंगे, भावजों का रंग देख ही रहे हो। तुम्हारे भी लड़के-बाले हैं, उनका भार कैसे सँभालोगे? खेती में जी न लगे, कहो कांस्टिबिली में भरती करा दूँ? बाँका गुमान खड़ा-खड़ा यह सब सुनता, लेकिन पत्थर का देवता, जो कभी न पसीजता। इन महाशय के अत्याचार का दण्ड उनकी स्त्री बेचारी को भोगना पड़ता था। मेहनत के घर के जितने काम होते, वे उसी के सिर थोपे जाते। उपले पाथती, कुएँ से पानी लाती, आटा पीसती और इतने पर भी जेठानियाँ सीधे मुँह बात न करतीं, वाक्य-बाणों से छेदा करतीं। एक बार जब वह पति से कई दिन रूठी रही, तो बाँके गुमान कुछ नर्म हुए। बाप से जाकर बोले—मुझे कोई दूकान खोलवा दीजिए। चौधरी ने परमात्मा को धन्यवाद दिया। फूले न समाये। कई सौ रुपये लगाकर कपड़े की दूकान खुलवा दी। गुमान के भाग

लगे। तनजेब के चुन्नटदार कुरते बनवाये, मलमल का साफा धानी रंग में रँगवाया। सौदा बिके या न बिके, उसे लाभ ही होता था। दुकान खुली हुई है, दस-पाँच गाढ़े मित्र जमे हुए हैं, चरस की दम और खयाल की तानें उड़ रही हैं—

'चल झटपट री, जमुना-तट री, खड़ो नटखट री'

इस तरह तीन महीने चैन से कटे। बाँके गुमान ने खूब दिल खोलकर अरमान निकाले; यहाँ तक कि सारी लागत लाभ हो गई! टाट के टुकड़े के सिवा और कुछ न बचा। बूढ़े चौधरी कुएँ में गिरने चले, भावजों ने घोर आन्दोलन मचाया—अरे राम! हमारे बच्चे और हम चीथड़ों को तरसें, गाढ़े का एक कुरता भी नसीब न हो, और इतनी बड़ी दुकान इस निखट्टू की कफ़न बन गई। अब कौन मुँह दिखायेगा? कौन मुँह लेकर घर में पैर रखेगा; किन्तु बाँके गुमान के तेवर ज़रा भी मैले न हुए। वही मुँह लिये वह फिर घर आया और फिर वही पुरानी चाल चलने लगा। कानूनदाँ बितान उसके ये ठाट-बाट देखकर जल जाता। मैं सारे दिन पसीना बहाऊँ, मुझे नैनसुख का कुरता भी न मिले, यह अपाहिज सारे दिन चारपाई तोड़े और यों बन-ठनकर निकले? ऐसे वस्त्र तो शायद मुझे अपने ब्याह में भी न मिले होंगे। मीठे शान के हृदय में भी कुछ ऐसे ही विचार उठते थे। अन्त में जब यह जलन न सही गई, और अग्नि भड़की, तो एक दिन कानूनदाँ बितान की पत्नी गुमान के सारे कपड़े उठा लाई और उन पर मिट्टी का तेल उँड़ेलकर आग लगा दी। ज्वाला उठी। सारे कपड़े देखते-देखते जलकर राख हो गये। गुमान रोते थे। दोनों भाई खड़े तमाशा देखते थे। बूढ़े चौधरी ने यह दृश्य देखा, और सिर पीट लिया। यह द्वेषाग्नि है। घर को जलाकर तब बुझेगी।

(३)

यह ज्वाला तो थोड़े देर में शान्त हो गई; परन्तु हृदय की आग ज्यों-की-त्यों दहकती रही। अन्त में एक दिन बूढ़े चौधरी ने घर के सब मेम्बरों को एकत्र किया और इस गूढ़ विषय पर विचार करने लगे कि बेड़ा कैसे पार हो। बितान से बोले—बेटा, तुमने आज देखा कि बात-की-बात में सैकड़ों रुपयों पर पानी फिर गया। अब इस तरह निर्वाह होना असम्भव है। तुम समझदार हो, मुकदमे-मामले करते हो, कोई ऐसी राह निकालो कि घर डूबने से बचे। मैं तो यह चाहता था कि जब तक चोला रहे, सबको समेटे रहूँ; मगर भगवान के मन में कुछ और ही है।

वितान की नीतिकुशलता अपनी चतुर सहगामिनी के सामने लुप्त हो जाती थी। वह अभी इसका उत्तर सोच ही रहे थे कि श्रीमतीजी बोल उठीं—दादाजी! अब समुझाने बुझाने से काम न चलेगा; सहते-सहते हमारा कलेजा पक गया। बेटे की जितनी पीर बाप को होगी, भाइयों को उतनी क्या, उसकी आधी भी नहीं हो सकती। मैं तो साफ कहती हूँ—गुमान का तुम्हारी कमाई में हक है, उन्हें कंचन के कौर खिलाओ और चाँदी के हिंडोले में झुलाओ। हममें न इतना बूता है, न इतना कलेजा। हम अपनी झोपड़ी अलग बना लेंगे। हाँ, जो कुछ हमारा हो, वह हमको मिलना चाहिए। बाँट-बखरा कर दीजिए। बला से चार आदमी हँसेंगे, अब कहाँ तक दुनिया की लाज ढोवें?

नीतिज्ञ वितान पर इस प्रबल वक्तृता का असर हुआ। वह उनके विकसित और प्रमुदित चेहरे से झलक रहा था। उनमें स्वयं इतना साहस न था कि इस प्रस्ताव को इतनी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते। नीतिज्ञ महाशय गंभीरता से बोले—जायदाद मुश्तरका, मन्कूला या गैरमन्कूला, आपके हीनहयात तकसीम की जा सकती है, इसकी नजीरें मौजूद हैं। जमींदार को साकितुल-मिल्कियत करने का कोई इस्तहक़ाक़ नहीं है।

अब मन्दबुद्धि शान की बारी आई; पर बेचारा किसान, बैलों के पीछे आँखें बन्द करके चलनेवाला, ऐसे गूढ़ विषय पर कैसे मुँह खोलता। दुविधा में पड़ा हुआ था। तब उसकी सत्यवक्ता धर्मपत्नी ने अपनी जेठानी का अनुसरण कर यह कठिन कार्य संपन्न किया। बोली—बड़ी बहन ने जो कुछ कहा, उसके सिवा और दूसरा उपाय नहीं। कोई तो कलेजा तोड़-तोड़कर कमाये; मगर पैसे-पैसे को तरसे, तन ढाँकने को वस्त्र तक न मिले, और कोई सुख की नींद सोवे, हाथ बढ़ा-बढ़ाके खाय! ऐसी अंधेर नगरी में अब हमारा निबाह न होगा!

शान चौधरी ने भी इस प्रस्ताव का मुक्तकंठ से अनुमोदन किया। अब बूढ़े चौधरी गुमान से बोले—क्यों बेटा, तुम्हें भी यही मंजूर है? अभी कुछ नहीं बिगड़ा। यह आग अब भी बुझ सकती है। काम सबको प्यारा है, चाम किसी को नहीं। बोलो, क्या कहते हो? कुछ काम-धन्धा करोगे या अभी आँखें नहीं खुलीं?

गुमान में धैर्य की कमी न थी। बातों को इस कान सुनकर उस कान उड़ा देना उसका नित्य-कर्म था; किन्तु भाइयों की इस 'जन-मुरीदी' पर उसे क्रोध आ गया।

बोला—भाइयों की जो इच्छा है, वही मेरे मन में भी लगी हुई है। मैं भी इस जंजाल से अब भागना चाहता हूँ, मुझसे न मजूरी हुई, न होगी। जिसके भाग्य में चक्की पीसना बदा हो, वह पीसे! मेरे भाग्य में तो चैन करना लिखा है, मैं क्यों अपना सिर ओखली में दूँ? मैं तो किसी से काम करने को नहीं कहता? आप लोग क्यों मेरे पीछे पड़े हुए हैं! अपनी-अपनी फिक्र कीजिए, मुझे आध सेर आटे की कमी नहीं है।

इस तरह की सभाएँ कितनी ही बार हो चुकी थीं, परन्तु इस देश की सामाजिक और राजनीतिक सभाओं की तरह इसमें भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता था। दो-तीन दिन गुमान ने घर पर खाना नहीं खाया। जतनसिंह ठाकुर शौकीन आदमी थे, उन्हीं की चौपाल में पड़ा रहता। अन्त में बूढ़े चौधरी गये और मनाके लाये। अब फिर वह पुरानी गाड़ी अड़ती, मचलती, हिलती चलने लगी।

(४)

पाँड़े के घर चूहों की तरह, चौधरी के घर में बच्चे भी सयाने थे। उनके लिए मिट्टी के घोड़े और लकड़ी की नावें, कागज की नावें थीं। फलों के विषय में उनका ज्ञान असीम था, गूलर और जंगली बेर के सिवा कोई ऐसा फल न था, जिसे वे बीमारियों का घर न समझते हों, लेकिन गुरदीन के खोंचे में ऐसा प्रबल आकर्षण था कि उसकी ललकार सुनते ही उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता था। साधारण बच्चों की तरह यदि वे सोते भी हों, तो चौंक पड़ते थे। गुरदीन उस गाँव में साप्ताहिक फेरे लगाता था। उसके शुभागमन की प्रतीक्षा और आकांक्षा में कितने ही बालकों को बिना किंडरगार्टन की रंगीन गोलियों के ही, संख्याएँ और दिनों के नाम याद हो गये थे। गुरदीन बूढ़ा-सा मैला-कुचैला आदमी था; किन्तु आस-पास में उसका नाम उपद्रवी लड़कों के लिए हनुमान-मंत्र से कम न था। उसकी आवाज़ सुनते ही उसके खोंचे पर बालकों का ऐसा धावा होता कि मक्खियों की असंख्य सेना को भी रणस्थल से भागना पड़ता था। और जहाँ बच्चों के लिए मिठाइयाँ थीं, वहाँ गुरदीन के पास माताओं के लिए इससे भी ज्यादा मीठी बातें थीं। माँ कितना ही मना करती रहे, बार-बार पैसा न रहने का बहाना करे; पर गुरदीन चट-पट मिठाइयों का दोना बच्चों के हाथ में रख ही देता, और स्नेहपूर्ण भाव से कहता—बहूजी, पैसों की कुछ चिन्ता न करो, फिर मिल रहेंगे, कहीं भागे थोड़े ही जाते हैं। नारायण ने तुमको बच्चे दिये हैं, तो मुझे भी उनकी

न्योछावर मिल जाती है, उन्हीं की बदौलत मेरे बाल-बच्चे भी जीते हैं। अभी क्या; ईश्वर इनका मौर तो दिखाये, फिर देखना, कैसे ठनगन करता हूँ।

गुरदीन का यह व्यवहार चाहे वाणिज्य-नियमों के प्रतिकूल हो क्यों न हो, चाहे 'नौ नगद सही, तेरह उधार नहीं' वाली कहावत अनुभव-सिद्ध ही क्यों न हो; किन्तु मिष्ठभाषी गुरदीन को कभी अपने इस व्यवहार पर पछताने या उसमें संशोधन करने की जरूरत नहीं हुई।

मंगल का शुभ दिन था। बच्चे बड़ी बेचैनी से अपने दरवाजों पर खड़े गुरदीन की राह देख रहे थे। कई उत्साही लड़के पेड़ों पर चढ़ गये और कोई-कोई अनुराग से विवश होकर गाँव से बाहर निकल गये थे। सूर्य भगवान् अपना सुनहला थाल लिये पूरब से पश्चिम जा पहुँचे थे, इतने ही में गुरदीन आता हुआ दिखाई दिया। लड़कों ने दौड़कर उसका दामन पकड़ा और आपस में खींचातानी होने लगी। कोई कहता था, मेरे घर चलो; कोई अपने घर का न्योता देता था। सबसे पहले भानु चौधरी का मकान पड़ा। गुरदीन ने अपना खोंचा उतार दिया। मिठाइयों की लूट शुरू हो गई। बालकों और स्त्रियों का ठट्ठ लग गया। हर्ष और विषाद, संतोष और लोभ, ईर्ष्या और क्षोभ, द्वेष और जलन की नाट्यशाला सज गई। कानूनदाँ वितान की पत्नी अपने तीनों लड़कों को लिये हुए निकली। शान की पत्नी भी अपने दोनों लड़कों के साथ उपस्थित हुई। गुरदीन ने मीठी बातें करनी शुरू कीं। पैसे झोली में रखे, धेले की मिठाई दी और धेले-धेले का आशीर्वाद। लड़के दोने लिये उछलते-कूदते घर में दाखिल हुए। अगर सारे गाँव में कोई ऐसा बालक था, जिसने गुरदीन की उदारता से लाभ न उठाया हो, तो वह बाँके गुमान का लड़का धान था।

यह कठिन था कि बालक धान अपने भाइयों-बहनों को हँस-हँस और उछल-उछलकर मिठाइयाँ खाते देखकर सब्र कर जाय। उस पर तुर्रा यह कि वे उसे मिठाइयाँ दिखा-दिखाकर ललचाते और चिढ़ाते थे। बेचारा धान चीखता और अपनी माता का आँचल पकड़-पकड़कर दरवाजे की तरफ खींचता था; पर वह अबला क्या करे? उसका हृदय बच्चे के लिए ऐंठ-ऐंठकर रह जाता था। उसके पास एक पैसा भी नहीं था। अपने दुर्भाग्य पर, जेठानियों की निष्ठुरता पर और सबसे ज्यादा अपने पति के निखट्टूपन पर कुढ़-कुढ़कर रह जाती थी। अपना

आदमी ऐसा निकम्मा न होता, तो क्यों दूसरों का मुँह देखना पड़ता, क्यों दूसरों के धक्के खाने पड़ते ? उसने धान को गोद में उठा लिया और प्यार से दिलासा देने लगी—बेटा, रोओ मत, अबकी गुरदीन आवेगा, तो मैं तुम्हें बहुत-सी मिठाई ले दूँगी, मैं इससे अच्छी मिठाई बाज़ार से मँगवा दूँगी, तुम कितनी मिठाई खाओगे ? यह कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं। आह ! यह मनहूस मंगल आज ही फिर आवेगा, और फिर ये ही बहाने करने पड़ेंगे ! हाय, अपना प्यारा बच्चा धेले की मिठाई को तरसे और घर में किसी का पत्थर-सा कलेजा न पसीजे ! वह बेचारी तो इन चिंताओं में डूबी हुई थी और धान किसी तरह चुप ही न होता था। जब कुछ वश न चला, तो माँ की गोद से ज़मीन पर उतरकर लोटने लगा और रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। माँ ने बहुत बहलाया, फुसलाया ; यहाँ तक कि उसे बच्चे के इस हठ पर क्रोध भी आ गया। मानव-हृदय के रहस्य कभी समझ में नहीं आते। कहाँ तो बच्चे को प्यार से चिपटाती थी, कहाँ ऐसी झल्लाई कि उसे दो-तीन थप्पड़ ज़ोर से लगाये और घुड़ककर बोली—चुप रह अभागे ! तेरा ही मुँह मिठाई खाने का है ? अपने दिन को नहीं रोता, मिठाई खाने चला है !

बाँका गुमान अपनी कोठरी के द्वार पर बैठा हुआ यह कौतुक बड़े ध्यान से देख रहा था। वह इस बच्चे को बहुत चाहता था। इस वक्त के थप्पड़ उसके हृदय में तेज भाले के समान लगे और चुभ गये। शायद उनका अभिप्राय भी यही था। धुनिया रुई को धुनकने के लिए तांत पर चोट लगाता है।

जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के हृदय में भी—चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं। गुमान की आँखें भर आईं, आँसू की बूँदें बहुधा हमारे हृदय की मलिनता को उज्ज्वल कर देती हैं। गुमान सचेत हो गया। उसने जाकर बच्चे को गोद में उठा लिया और अपनी पत्नी से करुणोत्पादक स्वर में बोला—बच्चे पर इतना क्रोध क्यों करती हो ? तुम्हारा दोषी मैं हूँ, मुझको जो दण्ड चाहे, दो। परमात्मा ने चाहा तो कल से लोग इस घर में मेरा और मेरे बाल बच्चों का भी आदर करेंगे। तुमने आज मुझे सदा के लिए इस तरह जगा दिया, मानों मेरे कानों में शंखनाद कर मुझे कर्म-पथ में प्रवेश करने का उपदेश दिया हो।

प्रेमचंद-साहित्य और प्रेमचंद-विषयक साहित्य